मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 96 ● वर्ष 11, अंक 3 ● मई 2021 ● पाँच रुपये ● 28 पृष्ठ

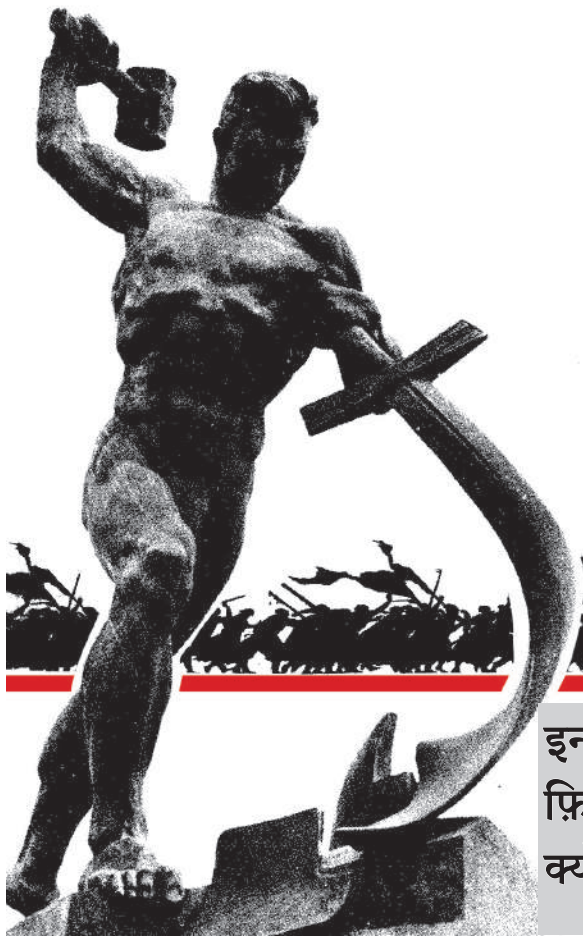

मज़दूर बिगुल

इन्साफ़पसन्द लोगों को फ़िलिस्तीन का समर्थन क्यों करना चाहिए 15

पाँच राज्यों के चुनाव नतीजे और सर्वहारा वर्गीय नज़रिया 3

विदा कॉमरेड मीनाक्षी, लाल सलाम! 8

कोरोना महामारी की दूसरी लहर से हो रही लाखों मौतें

इस देशव्यापी जनसंहार के लिए फ़ासिस्ट मोदी सरकार की आपराधिक लापरवाही ज़िम्मेदार है!

सम्पादक मण्डल

कोरोना महामारी की दूसरी लहर पूरे देश में क़हर बरपा कर रही है। बड़ी संख्या में लोग ऑक्सीजन जैसी बुनियादी ज़रूरत के अभाव, अस्पतालों में बेडों की कमी, जीवन रक्षक दवाओं की अनुपलब्धता व अन्य स्वास्थ्य सेवाओं के अभाव के कारण मौत का शिकार हो रहे हैं। अस्पतालों के बाहर लोग रोते-बिलखते असहायता के साथ अपनों को मरता देख रहे हैं। कोरोना मामलों की प्रतिदिन संख्या इतनी अधिक है कि डॉक्टरों और स्वास्थ्यकर्मियों के कन्धे भी इसके बोझ तले दब गये हैं। वहीं इससे होने वाली मौतों की संख्या इतनी विकराल है कि शमशानों और क़ब्रिस्तानों में शवों के लिए जगह नहीं मिल रही है। कोई दिन नहीं बीतता है जब देश के किसी कोने से ऐसी भयावह तस्वीरें न आ रही हों जो बतौर इन्सान हमें झकझोरकर न रख दें। चारों ओर मौत, बेबसी और लाचारी का एक ताण्डव जारी है लेकिन इन सबके बीच फ़ासिस्ट मोदी सरकार चुपचाप बैठकर तमाशा देख रही

है। पूरे देश की स्वास्थ्य व्यवस्था बुरी तरह से चरमरा गयी है और हम एक देशव्यापी स्वास्थ्य संकट व आपदा के साक्षी बन रहे हैं।

भारत बढ़ते संक्रमण और उससे होने वाली मौतों के मामले में नित नये विश्व रिकॉर्ड क़ायम कर रहा है। भारत में कोरोना संक्रमण के मामलों के बढ़ने की रफ़्तार इस समय दुनिया में सबसे ज़्यादा है। इन शब्दों के लिखे जाने तक कोरोना संक्रमण के कुल मामले 2 करोड़ 30 लाख पहुँच चुके हैं और मौतों की संख्या ढाई लाख हो चुकी है। असलियत में मौतें इन आँकड़ों से कम से कम पाँच गुना ज़्यादा मानी जानी चाहिए, कुछ विशेषज्ञ इन्हें 10 गुना अधिक भी बता रहे हैं क्योंकि तमाम वैज्ञानिकों-शोधकर्ताओं के अनुसार बड़े पैमाने पर कोरोना से होने वाली मौतों के आँकड़ों को सरकारों द्वारा दबाया जा रहा है। सरकार के मुताबिक़ ही कोरोना की जारी लहर में 1 अप्रैल, 2021 से अब तक 90,000 से ज़्यादा लोगों ने दम तोड़ दिया। यदि इन लोगों को समय पर अस्पताल, बेड, ऑक्सीजन और उपचार मिल गया होता तो इनमें

(पेज 9 पर जारी)

जनता की लाशों पर बन रहे सेण्ट्रल विस्टा प्रोजेक्ट को फ़ौरन रद्द करो!

चारों ओर मरते लोगों और ऑक्सीजन के लिए तड़पते मरीज़ों की कराहों के बीच मोदी के इस महल को हर हाल में दिसम्बर 2022 तक पूरा करने का तानाशाही फ़रमान जारी हो चुका है। फ़ासिस्टों की सनक के आगे आम लोगों की जान की कोई क़ीमत नहीं है। 100-100 करोड़ के 200 अस्पताल बनवाने के बजाय 20,000 करोड़ इस निरर्थक प्रोजेक्ट पर बहाये जा रहे हैं। हज़ारों करोड़ के ठेके संघियों के ख़ास पूँजीपतियों को दिये जा चुके हैं। यह मोदी और आर.एस.एस. की सनक और भ्रष्टाचार का सबसे बड़ा स्मारक है!

जब पिछले साल करोड़ों मज़दूर सड़कों पर पैदल चल रहे थे और रास्ते में जान गँवा रहे थे, तब भी यह रक्तपिपासु दैत्य उनके सुरक्षित घर लौटने की व्यवस्था करने के बजाय 8500 करोड़ खर्च करके अपनी ऐयाशी के लिए हवाई जहाज़ ख़रीद रहा था।

लाखों मौतों का ख़ून इस पागल तानाशाह के सिर पर है। पिछले साल इसने नमस्ते ट्रम्प करके और तमाम मूर्खताओं और निकम्मेपन से कोरोना को फैलने दिया और इस साल भी चुनावी रैलियों और कुम्भ आदि से न सिर्फ़ कोरोना को देशभर में फैलाया बल्कि पूरे साल के दौरान इलाज और बचाव की कोई तैयारी भी नहीं की।

देश की मेहनतकश जनता अपने साथ हो रहे इस क्रूर मज़ाक़ को कभी नहीं भूलेगी। जिस दिन जनता जाग उठेगी, ये फ़ासिस्ट उनके ग़ुस्से की आग को अपने महलों तक पहुँचने से रोक नहीं पायेंगे, चाहे जितने ऊँचे महल खड़े कर लें और उसमें चाहे जितनी गहरी सुरंगें खोद लें!

स्वास्थ्य सेवाओं पर विशेष खण्ड

आज़ाद भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति: एक ऐतिहासिक रूपरेखा – 18

राजधानी दिल्ली की बेहतर स्वास्थ्य सुविधाओं के दावे और हक़ीक़त – 19

कोरोना महामारी ने खोली पूँजीवादी चिकित्सा-व्यवस्था की पोल, आज मनुष्यता को समाजवादी चिकित्सा व्यवस्था की ज़रूरत है! – 20

पूँजीवाद और स्वास्थ्य सेवाओं की बीमारी – 21

क्रान्तिकारी समाजवाद ने किस प्रकार महामारियों पर क़ाबू पाया, सोवियत संघ और क्रान्तिकारी चीन के अनुभव – 22

मुनाफ़े के गोरखधन्धे में बलि चढ़ता विज्ञान और छटपटाता इन्सान – 23

बन्द होती सार्वजनिक क्षेत्र की दवा कम्पनियाँ, सरकार की मजबूरी या साज़िश? – 24

क्रान्तिकारी चीन में स्वास्थ्य प्रणाली – 25

डॉक्टर के नाम एक मज़दूर का ख़त – 28

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

ज़रूरी सूचना : कोरोना काल की मजबूरियों के कारण 'मज़दूर बिगुल' का यह अंक और आगामी कुछ अंकों का केवल डिजिटल संस्करण ही प्रकाशित होगा। बिगुल की वेबसाइट, फ़ेसबुक पेज, ईमेल और व्हॉट्सऐप पर आपको पहले की तरह अख़बार उपलब्ध होता रहेगा। स्थितियाँ सामान्य होते ही अख़बार फिर से पहले की तरह छपने भी लगेगा।

क्या आप मज़दूर बिगुल के रिपोर्टर बनेंगे?

क्या आप चाहते हैं कि मज़दूरों के जीवन, उनके काम के हालात, उनकी समस्याओं और संघर्षों के बारे में आप जैसे देश के करोड़ों मज़दूरों-कर्मचारियों को और देश के आम नागरिकों को पता चले? क्या आप चाहते हैं कि मज़दूरों की ख़बरें जो हर मीडिया से ग़ायब रहती हैं, वे मज़दूरों के अपने अख़बार के ज़रिये लोगों तक पहुँचें?

तो कलम उठाइए और अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव हमें भेजिए।

'मज़दूर बिगुल' आपका अपना अख़बार है। यह उन तमाम मेहनतकशों की आवाज़ है जिनकी बात इस देश के दर्जनों टीवी चैनलों और हज़ारों अख़बारों में कहीं सुनायी नहीं देती, मगर जिनकी मेहनत के बग़ैर यह देश एक दिन भी चल नहीं सकता।

आपको अगर टाइप करने में समस्या है तो काग़ज़ पर लिखकर उसकी फ़ोटो लेकर हमें व्हाट्सऐप पर भेज दीजिए। आप फ़ोन पर, व्हाट्सऐप पर या बिगुल के साथियों से मिलकर भी उन्हें जानकारियाँ दे सकते हैं। इसके बारे में कुछ भी जानने के लिए हमसे सम्पर्क करिए या अपने इलाक़े में 'मज़दूर बिगुल' बाँटने वाले साथियों से बात करिए।

आप इन तरीक़ों से अपनी बात हमारे तक पहुँचा सकते हैं :

डाक से भेजने का पता : **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**

ईमेल से भेजने का पता : **bigulakhbar@gmail.com**

व्हाट्सऐप नम्बर : 9721481546

मज़दूर बिगुल अख़बार है मज़दूरों का हथियार

मज़दूर बिगुल अख़बार है मज़दूरों का हथियार।
जीना है तो लड़ना होगा और लड़ना है तो चलना होगा।
कब तक दबे रहोगे उनके अत्याचारों से,
उखाड़ फेंको उनके वजूद को,
अपने तेज़ दिल और दिमाग़ के विचारों से।

प्रिय साथियों, दरअसल आप सब जानते हैं कि आज के इस समाज में मज़दूर वर्ग की हालत या दशा बहुत ज़्यादा ख़राब हो चुकी है। हर साल पता नहीं कितने ही मज़दूर भूख-बदहाली के कारण मौत के मुँह में समा जाते हैं। और सबसे अहम चीज़ है अपनी माँगों को लेकर अपने अधिकारों को लेकर, अपनी स्वतंत्रता को लेकर मज़दूर आबादी शिक्षित नहीं है और वह इसलिए दबायी जा रही हैं, कुचली जा रही है तो सबसे पहले तो मज़दूरों को उनके हक़-अधिकारों से परिचित कराना हम सबका सर्वप्रथम कर्तव्य बनता है। हमें ये जानने की आवश्यकता है कि हमारे साथ क्या हो रहा है? क्यों हो रहा है? और मज़दूर वर्ग अपना राज कैसे स्थापित कर सकता है? इसलिए मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने के लिए या जगाने के लिए मज़दूर बिगुल अख़बार की ज़रूरत है। मज़दूर बिगुल अख़बार मज़दूरों का एक हथियार रूपी अख़बार है। जिससे मज़दूर पूँजीपतियों से लड़ना और विरोध करना सीखते हैं। अख़बार मज़दूरों को सिर्फ़ शिक्षित ही नहीं करता बल्कि यह सलाह तक भी देता है हमें क्या करना चाहिए, कैसे करना चाहिए। सही मायने में कहूँ तो यह अख़बार मज़दूरों का एक अच्छा हितैषी बनकर आता है या एक सच्चा क्रान्तिकारी शिक्षक बनकर आता है। जो मज़दूरों को समाज की असलियत बताता है और उन पर हो रहे अत्याचारों का पर्दाफ़ाश करता है। यह मेहनतकश लोगों में क्रान्तिकारी भावना और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचारक बनकर आता है। 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग व क्रान्तिकारी कार्यकर्ता को शिक्षित करता है। साथ ही ये अख़बार उन लुटेरे पूँजीपतियों की चालों पर चोट भी करता है। मज़दूर बिगुल समाज में फैली पूँजीवादी अफ़वाहों और कुत्साप्रचार का खण्डन भी करता है। मज़दूर बिगुल उन सब मालिकों के नीचे काम कर रहे मज़दूरों-मेहनतकशों के साथ भेदभाव की असलियत प्रदर्शित करता है और उनका विरोध करता है। ये व्यवस्था मज़दूरों को कठपुतली बनाकर रखना चाहती है तो इसके विरूद्ध हमें एक बिगुल अख़बार की बहुत ज़्यादा ज़रूरत है, हमें एक चिंगारी रूपी बिगुल की ज़रूरत है जो एक दिन आग बनकर इस व्यवस्था और अत्याचारियों को राख कर देगी जो हमें दबाये हुए हैं। मुझे मज़दूर बिगुल अख़बार बहुत अच्छा लगा। मैंने इस अख़बार को अच्छी तरह पढ़ा और जाना। इसमें लिखे लेखों की गहराइयों को समझा। मैं चाहता हूँ कि यह अख़बार हर एक मज़दूर साथी के पास पहुँचे, जिसकी हमें सख़्त ज़रूरत है। इसकी सहयोग राशि पाँच रुपये है। ये अख़बार जनता के सहयोग से चलता है।

– अमित, गाँव - डोहाना खेड़ा, जीन्द, हरियाणा

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" **– लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट

www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमश: उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर नि:शुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546, 9971196111
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 5/- रुपये वार्षिक – 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 2000/- रुपये

पाँच राज्यों में सम्पन्न चुनावों के नतीजे और सर्वहारा वर्गीय नज़रिया

फ़ासीवाद को महज़ चुनावों के रास्ते शिकस्त नहीं दी जा सकती है!
ऐसा सोचना बुर्जुआ उदारतावादी विभ्रम है!

फ़ासीवाद का जवाब संघवाद (फ़ेडरलिज़्म) की ज़मीन से नहीं दिया जा सकता है!
संघीय अधिकारों की हिफ़ाज़त का नारा क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग का नारा है!
यह मज़दूर वर्ग की लड़ाई नहीं है, बल्कि वर्ग समर्पणवाद है!
लुटेरों के इस या उस दल को चुनने के बजाय आज मेहनतकश वर्गों को चुनावों में भी अपना स्वतंत्र राजनीतिक पक्ष खड़ा करने की ज़रूरत है!

– शिवानी

मार्च-अप्रैल 2021 में बंगाल सहित चार राज्यों असम, तमिलनाडु, केरल और पुदुचेरी केन्द्रशासित प्रदेश में सम्पन्न विधानसभा चुनावों के परिणाम हाल में सामने आये हैं। पश्चिम बंगाल में सत्ता फिर से तृणमूल कांग्रेस के हाथ में आयी है, जबकि यहाँ भाजपा दूसरी सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरी है। असम में भी एक बार फिर से भाजपा गठबन्धन की सरकार बनने जा रही है। तमिलनाडु में कांग्रेस के साथ मिलकर द्रमुक गठबन्धन चुनाव में विजयी हुआ है और भाजपा के सहयोगी अन्नाद्रमुक गठबन्धन को हार का सामना करना पड़ा है। केरल विधानसभा चुनाव में सीपीएम की अगुवाई में 'लेफ़्ट डेमोक्रेटिक फ्रण्ट' (एलडीएफ़) ने फिर से चुनाव जीता है और कांग्रेस गठबन्धन 'यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रण्ट' (यूडीएफ़) के हाथ हार ही लगी है। पुदुचेरी में एन आर कांग्रेस और भाजपा गठबन्धन ने राज्य विधानसभा में बहुमत हासिल किया है और पुदुचेरी में भाजपा गठबन्धन की ही सरकार बनने जा रही है। कुल मिलाकर चुनाव परिणाम काफ़ी विविधतापूर्ण रहे हैं, हालाँकि इनसे तमाम विश्लेषक-प्रेक्षक और राजनीतिक धड़े मनमुआफ़िक़ निष्कर्ष निकालने में व्यस्त हैं। लेकिन एक बात स्पष्ट है कि देश स्तर पर मोदी सरकार द्वारा कोरोना महामारी के कुप्रबन्धन और आपराधिक लापरवाही का ख़ामियाज़ा एक हद तक भाजपा को चुनावी नतीजों के रूप में उठाना पड़ा है। बहरहाल, **मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के लिए इन चुनावी नतीजों के क्या मायने हैं, यह समझना हमारे लिए ज़रूरी है।**

इन पाँच राज्यों में उस वक़्त चुनाव सम्पन्न हुए हैं जब पूरा देश ही कोरोना महामारी की दूसरी लहर और देशव्यापी स्वास्थ्य संकट से जूझ रहा है। चुनावों के दौरान विभिन्न पार्टियों द्वारा आयोजित बड़ी रैलियों और रोड शो का कोरोना संक्रमण के मामलों पर क्या असर पड़ा है, इसके परिणाम आज सबके सामने हैं। चुनावों के ठीक बाद बंगाल, तमिलनाडु और केरल में कोरोना संक्रमण और कोरोना से होनी वाली मौतों के मामलों में ज़बर्दस्त इज़ाफ़ा हुआ है। लेकिन चुनाव आयोग इस बीच हाथ पर हाथ धरे बैठे देखता रहा और तमाम चुनावी पार्टियाँ इस महामारी की गम्भीरता का मख़ौल बनाती रहीं। अन्तिम चरण के मतदान के वक़्त कुछ ज़ुबानी जमाख़र्च इन पार्टियों द्वारा किया गया लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। और उसमें भी भाजपा और मोदी सरकार अन्त तक रैलियों के आयोजन में मशगूल थी और प्रधानमंत्री मोदी बड़ी बेशर्मी से हाथ हिला-हिलाकर मंच से बोल रहे थे कि इतनी बड़ी रैली तो उन्होंने आज तक नहीं देखी है!

जब रोम जल रहा था और वहाँ का राजा नीरो बाँसुरी बजा रहा था तो यक़ीनन कुछ ऐसा ही दृश्य उपस्थित हुआ होगा। **तमाम अन्तरराष्ट्रीय स्वास्थ्य विशेषज्ञों तक ने कहा है कि इतनी भीषणता और तीव्रता से कोरोना संक्रमण के फैलने में चुनावी रैलियों और कुम्भ जैसे धार्मिक जुटानों के 'सुपर स्प्रेडर' आयोजन ज़िम्मेदार हैं। लेकिन असल में तो सत्ता में बैठे वे लोग ज़िम्मेदार हैं जो सब जानते हुए भी यह होने दे रहे थे। यह भारत की जनता के ख़िलाफ़ एक भयानक अपराध से कम नहीं है। फ़रवरी में ही ख़ुद सरकार द्वारा नियुक्त वैज्ञानिकों की समिति ने चेतावनी दी थी और अप्रैल की शुरुआत से ही यह समझ आने लग गया था कि संक्रमण की यह दूसरी लहर ज़्यादा संक्रामक और घातक है, लेकिन बेगुनाह लोगों की जान को जोखिम में डालने का पाप भी चुनाव आयोग और मोदी सरकार के सर पर है।** क्या इनके इस जनद्रोही आचरण के ख़िलाफ़ सख़्त से सख़्त दण्डात्मक कार्रवाई नहीं की जानी चाहिए? मोदी सरकार की यह अक्षम्य आपराधिक लापरवाही एकमात्र सबसे बड़ा कारण है कि आज भारत की मेहनतकश अवाम को कोरोना महामारी और भुखमरी दोनों का शिकार होना पड़ा है।

एक तरफ़ तो कोरोना संकट के इस पूरे दौर में मोदी सरकार की बदइन्तज़ामी तथा सरकारी जवाबदेही और ज़िम्मेदारी से पलायन महामारी को और कई गुना अधिक विकराल बना रहा था, वहीं दूसरी तरफ़ महामारी से लड़ने की कोई सुसंगत योजना बनाने और उसके सुचारू कार्यान्वयन की जगह समूचा केन्द्रीय मंत्रिमण्डल और केन्द्र सरकार चुनावों के प्रचार अभियान में मस्त थी। कोरोना आपदा के बीच ही पश्चिम बंगाल चुनाव को आठ चरणों में सम्पन्न कराया गया ताकि मोदी-अमित शाह और तमाम केन्द्रीय मंत्रियों की ज़्यादा से ज़्यादा रैलियाँ आयोजित करायी जा सकें। भाजपा ने हर चुनाव की तरह इन चुनावों में भी ख़ूब पैसा-संसाधन बहाया, मीडिया को सेट किया और चुनाव आयोग को भी अपनी जेब में बिठा दिया। बावजूद इसके, मोदी-शाह को मनमुआफ़िक़ चुनाव परिणाम नहीं मिले और पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु और केरल में इसे हार का मुँह देखना पड़ा। इसका एक प्रमुख कारण, जैसा कि हमने पहले भी ज़िक्र किया, मोदी सरकार की कोरोना महामारी को लेकर अगम्भीरता और कुप्रबन्धन भी है, जिसका असर उत्तर प्रदेश में हाल ही में सम्पन्न हुए पंचायत चुनावों के नतीजों में भी नज़र आया।

जहाँ तक पश्चिम बंगाल का प्रश्न है तो भाजपा को जिताने के लिए न केवल संघ परिवार ने अपनी पूरी ताक़त झोंक दी थी बल्कि चुनाव आयोग ने भी इसके लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रखा था। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी, गृहमंत्री अमित शाह, योगी आदित्यनाथ से लेकर तमाम केन्द्रीय मंत्री और अन्य राज्यों से भाजपाई-संघी अमले ने बंगाल "फ़तह" करने के लिए कोई कोर-कसर नहीं रख छोड़ी। मोदी ने बंगाल चुनाव के मद्देनज़र ही बांग्लादेश की यात्रा की और वहाँ जाकर यह 12 लाख कोविड-वैक्सीन की डोज़ भी बांग्लादेश को दे आये! बंगाल चुनाव में चुनाव आयोग की भूमिका ने एक बार फिर से स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय फ़ासिस्टों ने नौकरशाही, न्यायपालिका और चुनाव आयोग तक में एक लम्बे अरसे में संस्थाबद्ध घुसपैठ की है और इन्हें अपने ज़रूरतों के अनुकूल ढाल लिया है। चुनाव आयोग की आपराधिक उदासीनता और मोदी सरकार की चुनाव जीतने की हवस ने पश्चिम बंगाल को भयानक कोरोना संक्रमण और मौतों के ज़लज़ले के बीच धकेल दिया है। चुनाव आयोग और भाजपाई अब दृश्य से नदारद हैं लेकिन कोरोना संक्रमण का ख़ामियाज़ा बंगाल की जनता को भुगतना पड़ रहा है।

पाँच राज्यों में सम्पन्न हुए इन चुनावों में सबसे अधिक चर्चा पश्चिम बंगाल के चुनाव को लेकर रही। इसका एक कारण यह भी था कि बंगाल के चुनावों पर संघ परिवार, भाजपा और मोदी-शाह की निगाह पिछले लम्बे समय से थी। इसके मद्देनज़र ही इनके द्वारा कई तैयारियाँ भी की जा रही थीं। नागरिकता संशोधन क़ानून (सीएए) और राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर (एनआरसी) लाने के पीछे भी एक प्रमुख मक़सद पश्चिम बंगाल और साथ ही असम के विधान सभा चुनाव थे। इसका कारण इन दोनों राज्यों में हिन्दुत्व फ़ासिस्टों द्वारा "मुसलमान" और "बांग्लादेशी घुसपैठिये" जैसी कल्पित दुश्मन की छवि-निर्माण करके राजनीतिक ध्रुवीकरण पैदा करना था। इसलिए फ़ौरी तौर पर हिन्दुत्व फ़ासीवादी राजनीति को स्थापित करने के दृष्टिकोण से आरएसएस व मोदी-शाह के लिए इन सभी राज्यों में से पश्चिम बंगाल का चुनाव सबसे ज़्यादा महत्व रखता था। बंगाल में मुसलमान आबादी विचारणीय संख्या में मौजूद है, जो कुल आबादी की लगभग 30 प्रतिशत है। फ़ासिस्टों के लिए इस लिहाज़ से यहाँ साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की ज़मीन भी मुफ़ीद थी। यह बात भी किसी से छिपी नहीं है कि भाजपा ने पैसे, संसाधनों और केन्द्रीय सरकार की सम्पूर्ण मशीनरी की ताक़त, विशेष तौर पर, पश्चिम बंगाल के चुनावों की तैयारी में झोंक दी थी। मोदी ने 20 और गृहमंत्री अमित शाह ने 50 से ज़्यादा रैलियाँ अकेले पश्चिम बंगाल में सम्बोधित की। इसके अलावा, भारतीय फ़ासिस्टों के इस्तेमाल के लिए एक बेहद नमनीय चुनाव आयोग की मौजूदगी ने भी भाजपा का रास्ता सुगम बनाने का काम किया। कहने के लिए बंगाल में मुक़ाबला त्रिकोणीय था, लेकिन कांग्रेस और संसदीय वामपन्थी पार्टियों को शुरुआत से ही कोई गम्भीर दावेदार के तौर पर नहीं देख रहा था।

बंगाल चुनाव के नतीजों में ममता बनर्जी की तृणमूल कांग्रेस को 292 सीटों में से 213 सीटों पर विजय हासिल हुई है और कुल वोटों का 47.94 फ़ीसदी प्राप्त हुआ है, दो सीटों पर प्रत्याशियों की मृत्यु होने के कारण चुनाव नहीं हो पाया था। 2016 के विधानसभा चुनाव में तृणमूल कांग्रेस को 211 सीटों पर जीत मिली थी। वहीं दूसरी तरफ़ भाजपा को इस बार के चुनाव में 77 सीटें हासिल हुई हैं और उसे कुल डाले गये मतों का 38.13 प्रतिशत प्राप्त हुआ है। कांग्रेस, संसदीय वामपन्थी पार्टियों और इण्डियन सेक्युलर फ्रण्ट का गठबन्धन ले-देकर एक सीट जीत सका, वह भी आईएसएफ़ की उम्मीदवारी वाली सीट पर।

चुनाव प्रचार अभियान के दौरान भाजपा ने वोटों के ध्रुवीकरण की कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी और ज़बर्दस्त साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण का माहौल बनाया। इसके अलावा चुनाव से ऐन पहले कई दिग्गज टीएमसी नेताओं का भाजपा में शामिल हो जाना भी ममता बनर्जी के लिए झटका था, जिनमें से

(पेज 11 पर जारी)

कोरोना की दूसरी लहर में बदहाल राजस्थान

स्वास्थ्य सेवाओं ने दम तोड़ा, डेढ़ साल हाथ पर हाथ धरे बैठी रही गहलोत सरकार

– रवि

कोराना की दूसरी लहर में राजस्थान बिल्कुल बदहाल हो गया है। यहाँ की स्वास्थ्य सेवाओं ने दम तोड़ दिया है। यह लेख लिखे जाने तक राजस्थान में कुल ऐक्टिव कोरोना केस 1,98,000 हो गये थे। जबकी रोज़ 150 लोग कोरोना से दम तोड़ रहे हैं। राजस्थान में कोरोना की संक्रामकता का अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि कोरोना की पहली लहर में 50 दिन में 1 लाख मरीज़ आये थे जबकि इस बार दूसरी लहर में 5 दिन में ही 1 लाख से ज़्यादा पॉज़िटिव केस आ गये। यह लेख लिखे जाने तक राजस्थान में कोरोना से 5346 मौंते हो चुकी हैं जिसमें 6 मई को ही 161 मौतें हो गयी थीं जबकि पॉज़िटिविटी रेट 37 आ रहा है जो कि बहुत ज़्यादा है। जहाँ जक ज़िलों की बात की जाय तो जयपुर, जोधपुर, अलवर और उदयपुर कोरोना से सर्वाधिक प्रभावित हैं। इनमें भी जयपुर और जोधपुर सबसे अधिक प्रभावित हैं। जहाँ ऐक्टिव केस 6 मई तक क्रमशः 46206 और 24797 थे। दूसरी लहर में सबसे बड़ी बात यह है कि इस बार संक्रमण गाँवों तक व्यापक रूप से फैल चुका है। सरकारी डेटा के हिसाब से 35 प्रतिशत कोरोना केस गाँवों में आ रहे हैं। यह सभी कोरोना केस वह हैं जो रिपोर्ट हो रहे हैं। कोरोना केसों और इससे होने वाली मौंतों का वास्तविक आँकडा 5 से 10 गुना तक है। शहरों में तो ज़िला मुख्यालयों पर स्थित सरकारी व कुछ प्राइवेट अस्पतालों में कोरोना जाँच की सुविधा है लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में यह उपलब्ध नहीं है वहाँ पर टेस्टिंग के लिए ज़िला मुख्यालयों पर जाना पड़ता है जो कि तक़रीबन 50 कि.मी. से 100 कि.मी. तक होते हैं। उसके बाद भी 3-4 दिन रिपोर्ट आने में लग जाते हैं तब तक मरीज़ बहुत लोगों को संक्रमित कर चुका होता है और कई बार तो रोगी की मौत भी हो जाती है। गाँवों में बहुत से लोग कोरोना को मामूली खाँसी-ज़ुकाम, बुख़ार मानकर झोला छाप डॉक्टरों से इलाज करवाते हैं जो कि इलाज के नाम पर रोगी को ग्लूकोस चढा देते हैं या एण्टीबायोटिक और खाँसी-ज़ुकाम की दवा देते हैं। वहाँ न तो मास्क लगाया जाता है और न ही भौतिक दूरी का ध्यान रखा जाता है। सोशल मीडिया पर कई ऐसे वीडियो भी सामने आये हैं कि ग्रामीणों को खुले मैदान में ग्लूकोज़ व ऑक्सीजन चढ़ायी जा रही है। कई गाँवों और क़स्बों में सरकार की तरफ़ से रेण्डम सेम्पलिंग भी की जा रही है जिसमें हर 3 में से 2 लोग पॉज़िटिव आ रहे हैं इसी से गाँवों और क़स्बों में कोरोना की भयावहता का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। कई गाँवों में तो 70 प्रतिशत तक कोरोना संक्रमण फैल गया है।

कोरोना को रोकने के लिए राजस्थान की अशोक गहलोत सरकार ने 19 अप्रैल से 3 मई तक का मिनी लॉकडाउन लगाया था जिसे "जन अनुशासन पखवाड़ा" नाम दिया गया जिसे बाद में बढ़ाकर 17 मई तक कर दिया गया। लेकिन इस दोरान कोरोना केस कम होने की बजाय बढ़ गये। जयपुर में तो रोज़ 3000 से अधिक केस पिछले दस दिनों से आ रहे हैं तथा जोधपुर में 2000 से अधिक केस आ रहे हैं। इसके अलावा राजस्थान में रोज़ाना होने वाली मौतों का आँकड़ा भी 150 से ऊपर बना हुआ है। पूरे राजस्थान में रोज़ 17000 से ज़्यादा केस पिछले दस दिनों से आ रहे हैं। जबकि 7 मई को तो यह सारे रिकॉर्ड तोड़ते हुए कोरोना आने के बाद के अब तक के सबसे ज़्यादा केस 18231 रिपोर्ट किये गये अकेले जयपुर में ही 4902 कोरोना पोज़िटिव केस रिपोर्ट हुए। "जन अनुशासन पखवाड़े" की असफलता की वजह से गहलोत सरकार ने 10 मई से 24 मई तक राजस्थान में सख़्त लॉकडाउन लागू कर दिया। उसमें मनरेगा के तहत होने वाले कार्य और सार्वजनिक यातायात को भी बन्द कर दिया गया। राजस्थान में रिकवरी रेट भी देश के अन्य राज्यों से कम है जो कि मात्र 71.6 प्रतिशत है।

लॉकडाउन का बढ़ते कोरोना केसों पर तो कोई ख़ास असर नहीं पड़ा लेकिन इसका मज़दूर वर्ग, रेहड़ी पटरी लगाने वालों, ऑटो रिक्शा चालकों, छोटी मोटी प्राइवेट नौकरी करने वालों और गाँवों और क़स्बों से आकर जयपुर जैसे शहरों में किराये पर रहने वाले छात्रों व प्रतियोगी परीक्षार्थीयों पर बहुत बुरा असर पड़ा है। इधर एक साल से अर्थव्यवस्था और रोज़गार के बहुत बुरे हालात थे। अब कोरोना की दूसरी लहर और सरकार के द्वारा अनियोजित तरीक़े से लगाये गये लॉकडाउन ने मज़दूर वर्ग और ग़रीब आबादी की कमर ही तोड़ दी है। सरकार को लॉकडाउन लगाने से पहले ग़रीब आबादी और मज़दूर वर्ग को आर्थिक सहायता उपलब्ध करवानी चाहिए। जो मज़दूर, छात्र और प्रतियोगी परीक्षार्थी शहरों में किराये पर रहते हैं उनका किराया सरकार को माफ़ करना चाहिए। यदि विशेष परिस्थिति हो तो सरकार की तरफ़ से मकान मालिक को किराये का भुगतान किया जाये।

कोरोना को देश में आये डेढ़ साल हो गया है लेकिन केन्द्र और राज्य सरकारें सोती रहीं। इस दौरान चिकित्सा सुविधाओं को बढ़ाना चाहिए था। ऑक्सीजन और वेण्टिलेटर की अस्पतालों में व्यवस्था की जानी चाहिए थी। डॉक्टरों और नर्सों की नयी भर्ती की व्यवस्था की जानी चाहिए थी। लेकिन मोदी सरकार ने जनता को ताली और थाली बजाने के सिवाय कुछ नहीं दिया। कोरोना की दूसरी लहर में बहुत सी मौतें ऑक्सीजन और अस्पताल में बेड नहीं मिलने की वजह से हुई हैं। यह वह ज़िन्दगियाँ हैं जो बचायी जा सकती थीं। लॉकडाउन केवल सरकारों को समय उपलब्ध कराता है ताकि इस दौरान वे चिकित्सा सुविधाओं को बढ़ा सकें, नये अस्पताल बना सकें। लेकिन जो सरकारें पिछले डेढ़ साल से सोयी हुई हैं वो 15 दिन या एक महीने के लॉक डाउन में चिकित्सा सुविधाएँ और डॉक्टरों की संख्या बढ़ायेंगी यह मानना निराधार है। दरअसल यह इस पूँजीवादी व्यवस्था में बहुत दूर की कोड़ी है।

कोरोना महामारी की दूसरी लहर के बीच अभी भी कुछ लोग ऐसे हैं जो यह मानते है कि कोरोना नाम की कोई बीमारी ही नहीं है या ज़्यादा से ज़्यादा यह एक मामूली मौसमी फ़्लू है और यह जो मौतें कोरोना से हो रही हैं वह भय से हो रही हैं। एक दूसरे टाइप के लोग हैं जिनमें मुख्यतः लिबरल और "मार्क्सवादी" शामिल हैं उनका मानना यह है कि कोरोना दुनिया की फ़ार्मेसी कम्पनियों और डब्ल्यूएचओ का षड्यंत्र है। अभी हाल ही ही में "व्हाट्सएप यूनिवर्सिटी" पर एक नयी थ्योरी आयी है कि यह मौतें दरअसल कोरोना से नहीं हो रहीं बल्कि 5जी की टेस्टिंग की वजह से हो रही हैं। ऐसे षड्यंत्र सिद्धान्तकारों और कोविडियट्स की मूर्खता का तो भगवान ही मालिक है। लेकिन ऐसे लोग पिछड़ी चेतना की जनता को भी प्रभावित करते हैं जिसकी वजह से आम जनता भी कोरोना के प्रति लापरवाह हो जाती है जिसका नुक़सान आम जनता को कोरोना संक्रमित होकर और कुछ केसों में तो अपनी जान से हाथ धोकर भी उठाना पड़ता है।

इसलिए आम जनता को भी कोरोना की दूसरी लहर को देखते हुए जहाँ तक सम्भव हो घर से बिना काम बाहर नहीं निकलना चाहिए अगर काम से निकलना भी पड़े तो कोविड प्रोटोकॉल का पालन अवश्य करना चाहिए। जैसे दो गज़ की दूरी, मास्क लगाना और हाथ धोना या हाथों को सेनेटाइज़ करना। वैसे तो पूँजीवाद में कोई भी महामारी विकराल रूप धारण कर सकती है। लेकिन अगर केन्द्र में मोदी सरकार जैसी फ़ासिस्ट सरकार हो तो फिर यह एक नरसंहार की हद तक जा सकती है। कोरोना की दूसरी लहर से होने वाली मौंतो की ज़िम्मेदार केन्द्र में बैठी मोदी सरकार और राज्य सरकारें है।

जब बस्तियों के किनारे श्मशान बना दिये जायें तो समझो हालात बद से बदतर हो गये हैं

– अदिति

कोरोना महामारी की दूसरी लहर ने तमाम सरकारों के चेहरे से एक बार नक़ाब उतार दिया है। स्वास्थ्य सुविधाओं की पोल पट्टी पूरी तरह खुल गयी है। कोरोना महामारी से प्रतिदिन 4000 के क़रीब मौतें हो रही हैं, जो सिर्फ़ सरकारी आँकड़ा है, पर असल में सरकारी आँकड़ों से तीन-चार गुना अधिक मौतें हो रही हैं। मौत न कहकर इनको व्यवस्था द्वारा की गयी हत्या कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। चारों तरफ़ हाहाकार है, लोग ऑक्सीजन, बेड और दवाइयों के लिए भटक रहे हैं। लेकिन केन्द्र से लेकर राज्य सरकारों ने अपनी ज़िम्मेदारी से हाथ उठा लिये है।

मज़दूर इलाक़ों में कोरोना महामारी में हालात बद से बदतर है, क्योंकि यहाँ बुनियादी सुविधाएँ तक नहीं हैं, रोज़ खाने-जीने का संघर्ष इस महामारी में भी जारी है। इसी से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि मज़दूर इलाक़ों की स्थिति कैसी है। मज़दूर इलाक़े कूड़ों के ढेर से अटे पड़े हैं, साफ़-सफ़ाई की कोई उचित सुविधा नहीं है।

स्थिति ये है कि सार्वजनिक शौचालयों में गन्दगी का अम्बार है, पीने के पानी के टैंकरो पर भारी भीड़ लग रही है, पर केजरीवाल सरकार मीडिया के सामने अपनी पीठ थपथपाने में व्यस्त है।

उत्तर-पश्चिमी दिल्ली के शाहबाद-डेरी से सटे पाँच-मन्दिर में जहाँ कोरोना महामारी में भी रिहायशी इलाक़े के पास श्मशान-घाट बना दिया गया है। जिससे लोगों को काफ़ी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ रहा है। हवा में धुँआ और इन्सानी राख हमेशा वातावरण में रहते हैं, जिससे आस-पास के लोगो को साँस लेने में काफ़ी दिक़्क़त हो रही है। श्मशान का सारा धुँआ इलाक़े में आ रहा है, जिसके कारण इलाक़े में बुज़ुर्गों और बच्चों का स्वास्थ्य भी ख़राब हो रहा है। खाने से लेकर तमाम चीज़ों में धूल के कण गिर जाते हैं। लोगों के घरों के अन्दर से श्मशान में जलते लोग दिखायी देते हैं। बिना किसी सुरक्षा इन्तज़ाम के पी.पी.ई किट भी श्मशान में इधर-उधर फेंके जा रहे हैं। स्थानीय प्रशासन इस मसले में चुप्पी साधे बैठा है।

ग़ौरतलब है कि एक तरफ़ मध्यमवर्गीय अपार्टमेण्ट हैं, जहाँ कोविड होने पर ऐसे परिवारों की सहायता हेतु मार्शल दिये जा रहे हैं, वहीं दूसरी तरफ़ मज़दूरों की ज़िन्दगी जानवरों सरीखी मानी जा रही है, जहाँ कोरोना से रक्षा तो दूर, पर बग़ल में ही कोरोना से मृत हुए लोगों को जलाया जा रहा है। इसी से पता चलता है कि मज़दूरों-मेहनतकशों की ज़िन्दगी से सरकारों को कोई लेना-देना नहीं है।

श्मशान घाट में काम करने वाले मज़दूरों ने बताया कि यहाँ कोविड और ग़ैर-कोविड लाशें जलायी जा रही हैं। सुबह 5 बजे श्मशान में जाकर अपना पंजीकरण करवाने पर ही लाशों को जलाने की जगह मिल रही है, ऐसी स्थिति आ गयी है कि श्मशान बनते ही लाशों की क़तारें लगना शुरू हो गयीं। एम.सी.डी. वाले सही आँकड़ा देने में आनाकानी कर रहे हैं, पर कम से कम रोज़ाना जलने वालों की संख्या 40-50 होती है। एम.सी.डी. के कर्मचारियों के अनुसार 1 मई को यहाँ अट्ठाइस लोगों को जलाया गया था और 2 मई तीस लोग जलाये गये थे और इसके बाद से रोज़ाना पचास लोगों को यहाँ जलाया जाता है। इतने क़रीब से लाशों को जलता देख लोग सो भी नहीं पा रहे हैं।

शाहबाद-डेरी में बीस वर्ष से पहले इस जगह श्मशान बनाने के ख़िलाफ़ लोगों ने संघर्ष किया था, लोगों के दबाव के कारण ही श्मशान घाट इलाक़े से दूर बना दिया गया था। लेकिन कोरोना महामारी में लोगों के स्वास्थ्य की परवाह न करते हुए केन्द्र सरकार और राज्य सरकार के गठजोड़ से श्मशान घाट दो दशकों बाद पुनः चालू कर दिया गया, अब 30 अप्रैल से श्मशान घाट में दोबारा लाशों को जलाना शुरू कर दिया गया है। इससे एक बार फिर तमाम चुनावबाज़ पार्टियों का चेहरा उजागर होता हैं कि ये मुर्दाख़ोर लोगों को मारकर भी सिर्फ़ अपनी गोटी सेट करने चाहते हैं।

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी लगातार इन लोगों के बीच जा रही है। प्रयास किया जा रहा है कि जल्द से जल्द इस श्मशान को बस्ती के पास से हटाकर कहीं दूर बनाया जाये। लगातार लोगों के बीच हस्ताक्षर अभियान भी चलाया जा रहा है, ताकि इन हस्ताक्षरों के साथ सरकार को ज्ञापन सौंपा जाये। आने वाले 10 मई को मज़दूर पार्टी के नेतृत्व में लोगों के साथ पार्षद के पास जायेंगे और तब तक चुप नहीं बैठेंगे जब तक यह श्मशान बस्ती के समीप से हटाकर कहीं दूर न बनाया जाये।

आज कोरोना की दूसरी लहर से चरमराई स्वास्थ्य व्यवस्था और फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा बरती गयी जघन्य आपराधिक लापरवाही से आज मज़दूर इलाक़े श्मशान में तब्दील हो रहे हैं। ये वो तथ्य है जो सामने आ गये, पर कोरोना से मची तबाही के असल आँकड़े ये सरकारें बता ही नहीं रहीं। हालात भयंकर होते जा रहे हैं, नरभक्षी फ़ासिस्ट मोदी सरकार और अन्य सरकारें स्वास्थ्य व्यवस्था दुरुस्त करने में पूरी तरह विफल हो चुकी हैं। इस क़त्लेआम को रोकना है, तो आज हमारे सामने एक ही विकल्प है: एकजुट होकर पूरे निजी अस्पतालों, पैथ लैब के राष्ट्रीकरण की माँग उठाना और सबको एक समान व सार्वभौमिक स्वास्थ्य व्यवस्था मुहैया कराने के लिए लड़ना।

बिना योजना थोपा गया लॉकडाउन और मज़दूरों के हालात

– भारत

हमारा देश आज ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा धधक रहा है। दूसरी तरफ़ हमारे देश का नीरो बाँसुरी बजा रहा है। कोरोना महामारी से बरपे इस क़हर ने पूँजीवादी स्वास्थ्य व्यवस्था के पोर-पोर को नंगा कर के रख दिया है। एक तरफ़ देश में लोग ऑक्सीजन, बेड, दवाइयों की कमी से मर रहे हैं, दूसरी तरफ़ फ़ासीवादी मोदी सरकार आपदा को अवसर में बदलते हुए पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरने में मग्न है। जब कोरोना की पहली लहर के ख़त्म होने के बाद देश भर की स्वास्थ्य व्यवस्था को दुरुस्त करना चाहिए था, तब यह निकम्मी सरकार चुनाव लड़ने में व्यस्त थी। **पिछली बार से कोई सबक़ न लेते हुए (जिनकी इन हत्यारों से उम्मीद भी नहीं की जा सकती) इस बार भी मेहनतकश आवाम को अपने हाल पर छोड़ दिया गया है।**

इस बार मोदी ने पूरे देश में एक साथ लॉकडाउन न लगाकर, यह काम राज्य सरकारों के अधीन कर दिया है। वहीं राज्य सरकारों ने भी मोदी सरकार के पदचिह्नों पर चलकर बिना किसी तैयारी के लॉकडाउन की घोषणा कर दी है। इस समय देश में केरल, यूपी, बिहार, छत्तीसगढ़, राजस्थान, तमिलनाडु, उड़ीसा, दिल्ली व हिमाचल प्रदेश में लॉकडाउन लगा हुआ है। कई राज्यों में मिनी लॉकडाउन और रात का कर्फ़्यू लगा है। ऐसे में देश की मेहनतकश आवाम को इन सरकारों ने भूख और बीमारी से मरने के लिए छोड़ दिया है।

हर जगह इस अनियोजित लॉकडाउन से मज़दूरों के बीच अनिश्चितता का माहौल है। उनके बीच पिछले साल की वह भयावह यादें अब भी ताज़ा है। अगर पिछले वर्ष की बात करें तो स्टैण्डर्ड वर्कर एक्शन ग्रुप के एक सर्वे के अनुसार पिछले साल 81.6 प्रतिशत प्रवासी मज़दूरों को लॉकडाउन के दौरान राशन नहीं मिला। एक्शन एड की एक रिपोर्ट बताती है कि 2020 में अनियोजित लॉकडाउन के कारण 78 प्रतिशत मज़दूरों के पास रोज़ी-रोटी कमाने का कोई साधन नहीं था। अन्य एक रिपोर्ट के अनुसार 85 प्रतिशत मज़दूरों को लॉकडाउन का वेतन नहीं मिला। इसी कारण पिछले साल क़रीब 8 से 10 करोड़ मज़दूरों का पलायन हुआ। इसी पलायन में ही क़रीब 100 मज़दूरों की जान चली गयी और करोड़ों लोग भूख से बेहाल होकर पुलिस की मार खाते हुए हज़ारों किलोमीटर चलते रहे। यह इस देश की आज तक की सबसे बड़ी त्रासदियों में से एक है। इसी कारण आज भी मज़दूरों के बीच अनिश्चितता है जो इस पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा ही जनित है। बेशर्मी की इन्तिहाँ देखिए! पिछले साल मज़दूरों को घर पहुँचाने के लिए ट्रेन चालू करने में मोदी सरकार ने लापरवाही बरती, पर इस बार कोरोना को शुद्ध करने की ख़ातिर कुम्भ स्नान के लिए मुस्तैदी से 25 स्पेशल ट्रेनें चलायी गयीं।

आज एक तरफ़ मज़दूरों के ऊपर अनियोजित लॉकडाउन का क़हर बरपा हो रहा है, दूसरी तरफ़ बेरोज़गारी भी महामारी का ही रूप ले रही है। मार्च 2021 में भारत में बेरोज़गारी दर 6.5 फ़ीसदी थी। शहरी इलाक़ों में बेरोज़गारी की दर 7.1 फ़ीसदी तो ग्रामीण इलाक़ों में 6.2 फ़ीसदी है। जिन राज्यों में बेरोज़गारी दर सबसे ज़्यादा है वह हैं – हरियाणा, राजस्थान, गोवा, हिमाचल प्रदेश, झारखण्ड, बिहार, त्रिपुरा, दिल्ली, पंजाब। अधिकतम बेरोज़गारी दर की बात करें तो अभी 23.50 फ़ीसदी तक पहुँच गयी है। पिछले साल लॉकडाउन से लेकर अब तक कारख़ानों से लेकर हर क्षेत्र के मज़दूरों के बीच बेरोज़गारी बढ़ी है। जिन मज़दूरों के पास काम है, उनका वेतन घटा दिया गया है क्योंकि बेरोज़गारी बढ़ने से मालिकों की मज़दूरों से मोल-भाव की क्षमता भी बढ़ गयी है। ऐसे भी बहुत मज़दूर मिले जिन्हें पिछले लॉकडाउन के बाद अब तक काम नहीं मिला है।

लॉकडाउन का सबसे ज़्यादा असर असंगठित क्षेत्र में काम कर रहे मज़दूरों पर पड़ा है। भारत में क़रीब 90% मज़दूर असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं। आइए इसके असर को अधिक विस्तार से समझते हैं – आज भारत में 18 करोड़ लोग झुग्गियों में रहते हैं और 18 करोड़ आबादी फुटपाथ पर सोती है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण(2013) के मुताबिक़ देश के ग्रामीण इलाक़ों में सबसे निर्धन लोग औसतन 17 रुपये प्रति दिन और शहरों में 23 रुपये प्रति दिन में गुज़ारा करते हैं। 2006 में आयी अर्जुन सेनगुप्ता कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार देश में 84 करोड़ लोग ऐसे थे जो रोज़ाना 20 रुपये में गुज़र-बसर करते थे। कमोबेश यही हालात आज भी बने हुए हैं। अगर मज़दूरी थोड़ी बढ़ी है, तो महँगाई उससे भी ज़्यादा बढ़ गयी है।

ऐसी स्थिति में पिछले साल लॉकडाउन लगा और मज़दूरों के खाने तक की दिक़्क़त हो गयी, बहुतों के सर पर तो छत भी नहीं बची। एक सर्वे के अनुसार पिछले साल लॉकडाउन में 60 प्रतिशत प्रवासी मज़दूरों को घर ख़ाली करना पड़ा था। इसी सर्वे में पता चला कि 63 प्रतिशत मज़दूरों को दिन में दो बार मुश्किल से खाना मिल पा रहा था। 34 प्रतिशत ऐसे लोग थे जिन्हें सिर्फ़ एक बार ही खाना नसीब हो रहा था और 3 प्रतिशत लोगों को दिन में दो बार। ज़रा सोचिए कि कोरोना की दूसरी लहर और ये अनियोजित लॉकडाउन किस क़दर मज़दूरों पर आफ़त बनकर टूट रहा है। और तो और फ़ासीवादियों की लापरवाही ने इसे दस गुना विकराल रूप दे दिया है। मज़दूर आबादी तो पहले से ही शोषण के पहियों में पिस रही थी, कोरोना ने उस शोषण के पहिये की रफ़्तार को और तेज़ कर दिया है।

कारख़ाने बन्द होने के बाद से अब तक मालिकों ने मज़दूरों के वेतन नहीं दिये हैं। महाराष्ट्र दिल्ली में लॉकडाउन लगने के बाद मज़दूरों की एक आबादी गाँव के लिए निकल गयी, इस बार भी पिछली बार की तरह तीन गुना अधिक किराया देकर गाँव जाने को मजबूर है, पर वह भी जानते हैं गाँव में ज़्यादा दिन तक नहीं रहा जा सकता है, इसलिए वापस आना ही पड़ेगा। इसी कारण इस बार पिछली बार की तरह पलायन नहीं हुआ, पर जो आबादी इस बार गाँव नहीं गयी, उनके लिए दूसरी लहर से बचने के लिए न ही आर्थिक सुरक्षा है और न ही स्वास्थ्य की और न ही अभी तक इसे मुहैया कराने के लिए किसी सरकार ने इसकी तरफ़ कोई ध्यान दिया है। एक तरफ़ मज़दूरों की एक आबादी ऐसी भी है जिसे इस समय भी मजबूरन काम पर जाना पड़ रहा है, यदि नहीं जायेंगे तो खाने के लाले पड़ जायेंगे। दिल्ली की बात करें तो अभी लॉकडाउन में भी यहाँ 30 प्रतिशत कारख़ाने ग़ैर-क़ानूनी तौर पर चल रहे हैं, जहाँ मज़दूर बिना किसी सुरक्षा के जा रहे हैं। कारख़ानों में मज़दूरों के लिए बुनियादी सुरक्षा ही नहीं होती, तो मास्क सेनेटाइज़र मिलना तो बहुत दूर की कौड़ी है। इसी लापरवाही के कारण वाहन निर्माता कम्पनी मारुति में कई मज़दूरों की कोरोना से जान चली गयी, जिसके बाद कम्पनी को हरियाणा के अपने तीनों प्लाण्टों को 9 मई तक बन्द करना पड़ा। मारुति जैसे बड़े कारख़ानों की ये हालत है, तो देश भर में फैले छोटे कारख़ानों में क्या हालत होगी।

हाल के कुछ सर्वेक्षण ग़रीबों-मेहनतकशों के जीवन पर अनियोजित लॉकडाउन की वजह से आयी आफ़त की झलक देते हैं। एक सर्वेक्षण में महाराष्ट्र के पुणे और उल्हासनगर के 974 प्रवासी मज़दूरों से बात की गयी। बात करने वालों में क़रीब आधे निर्माण मज़दूर थे, शेष गारमेण्ट सेक्टर के और बैग बनाने का काम करने वाले मज़दूर थे। इस सर्वेक्षण में शामिल मज़दूरों में 70 प्रतिशत मज़दूरों को काम के दौरान की मज़दूरी नहीं मिली। कुल प्रवासी मज़दूरों में से 63 प्रतिशत मज़दूरों का कहना था कि उनके गन्तव्य पर जीवित रहने के लिए कोई साधन नहीं है। इसी सर्वे में आगे बताया गया कि 68 प्रतिशत मज़दूरों तक किसी भी प्रकार की कोई सरकारी मदद नहीं पहुँची। जिनको सरकारी मदद मिली, उनमें से 75 प्रतिशत ने बताया कि वह मदद पर्याप्त नहीं थी। 36 प्रतिशत मज़दूरों को लॉकडाउन के दौरान भूखे सोना पड़ा। 30 प्रतिशत मज़दूरों को ही सरकार की ओर से राशन मिल पाया।

स्वास्थ्य व्यवस्था चरमराने के साथ ही मज़दूर इलाक़ों में भी इस महामारी के फैलने का ख़तरा बढ़ गया है, क्योंकि मज़दूर इलाक़ों में सरकारी अस्पताल नदारद है और ना ही कोरोना से जुड़े प्रोटोकॉल को लागू करने की परिस्थिति है। शौचालय से लेकर पानी भरने की लाइन तक में भीड़ होती ही है और यहाँ भौतिक दूरी का पालन करना सम्भव नहीं हो सकता। और ज़रा सोचिए! 8 गुना 10 के झुग्गियों में कैसे पीड़ित व्यक्ति को क्वारेण्टाइन किया जायेगा। पूरे देश की मज़दूर बस्तियों में भी कोरोना संक्रमितों की संख्या पिछली बार के मुक़ाबले लगातार बढ़ रही है और मौतें भी ज़्यादा हो रही हैं। दिल्ली के शाहबाद डेरी में मज़दूर बस्ती से सटा एक श्मशान भी बनाना पड़ा, वहाँ हर रोज़ क़रीब पचास कोरोना से मृत लोगों को जलाया जा रहा है। असल आँकड़े सरकारी रिपोर्ट में दर्ज नहीं होते।

मज़दूरों के अलग-अलग हिस्सों में सब मुख्यतः एक ही समस्या से जूझ रहे हैं। घरेलू कामगार हो या दिहाड़ी-कारख़ाना मज़दूर, छोटा-मोटा रेहड़ी करने वाले मेहनतकश, सब यही बताते हैं कि सरकार ने उन्हें भूख और बीमारी से मरने के लिए छोड़ दिया है। घरेलू कामगार रीना बताती हैं कि अप्रैल से लॉकडाउन लगने के बाद कोठी मालिक काम पर नहीं बुला रहा और न ही बकाया पैसा दे रहा है और आरडब्लूए भी इस पर कुछ नहीं कर रहा है। सरकार भी राशन नहीं दे रही, हम किरायेदार हैं। कहाँ जायें! भूख से ही मरें या बीमारी से!

फ़ासीवादी मोदी सरकार कोरोना के प्रति शुरुआत से ही पाशविक लापरवाही बरतती आयी है, जो अब अपने क्रूरतम रूप में है। जब पूरी दुनिया में कोरोना फैल रहा था, तब मोदी 'नमस्ते ट्रम्प' करा रहा था, दिल्ली दंगों के सफल प्रयोग किये जा रहे थे, सीएए-एनआरसी आन्दोलनों को कुचला जा रहा था। इसके बाद कोरोना के लड़ने के नाम पर आनन-फ़ानन में लॉकडाउन लगा दिया और तुरन्त घड़ियाली आँसू बहाते हुए पीएम केयर्स फ़ण्ड बनाया गया जिसके पैसे का आजतक कोई हिसाब-किताब नहीं दिया गया। इस समय देश चिताओं के ढेर में तब्दील हो रहा है, पर देश में सेण्ट्रल विस्टा का काम बिना रुके चलता जा रहा है। अनियोजित लॉकडाउन के अलावा जो सबसे बड़ा हमला मोदी सरकार ने मज़दूरों पर किया है, वह है काग़ज़ों पर बचे-खुचे श्रम क़ानूनों को समाप्त कर, चार लेबर कोड बनाना। इस क़ानून के लागू होने के बाद वेतन का भुगतान अधिनियम 1936, न्यूनतम वेतन अधिनियम 1948, बोनस भुगतान अधिनियम 1965 और समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976 को ख़त्म कर दिया गया है। इसके अन्तर्गत पूरे देश के लिए वेतन का न्यूनतम स्तर निर्धारित किया जायेगा। सरकार ने मालिकों के प्रति उदारता दिखाते हुए प्रतिदिन के लिए स्तरीय मज़दूरी 178 रुपये करने की घोषणा कर दी है यानी 26 दिन का 4628 रुपये। इसी के साथ जिन कारख़ानों में 300 तक मज़दूर हैं उनकी छँटनी करने के लिए सरकार की इजाज़त लेने की ज़रूरत नहीं होगी (पहले यह संख्या 100 थी)। मैनेजमेण्ट को 60 दिन का नोटिस दिये बिना मज़दूर हड़ताल पर नहीं जा सकते। यह

(पेज 6 पर जारी)

मोदी की सनक और भ्रष्टाचार के सबसे बड़े स्मारक – 20 हज़ार करोड़ से बन रहे सेण्ट्रल विस्टा प्रोजेक्ट पर काम करते हुए मज़दूर

“पाँच ट्रिलियन डॉलर” की अर्थव्यवस्था बन रहे देश में ऑक्सीजन, दवा, बेड की कमी से दम तोड़ते लोग!

– प्रियम्वदा

कोरोना महामारी की दूसरी लहर भयावह रूप धारण कर चुकी है। इस दौरान विश्वगुरु भारत की चिकित्सा व्यवस्था के हालात भी खुलकर हमारे सामने आ गये हैं। देश में कोविड से होने वाली मौतों का आँकड़ा 2,38,270 पार कर चुका है। हर रोज़ 4.01 लाख से अधिक कोरोना पॉज़िटिव मामले दर्ज किये जा रहे हैं वहीं 4,187 मौतें आये दिन हो रही हैं। असल में संक्रमित लोगों और कोरोना से होने वाली मौतों के आँकड़े इससे कहीं अधिक हैं जिन्हें सरकार व मीडिया द्वारा लगातार दबाया जा रहा है। भारत में कोरोना के बढ़ने की रफ़्तार इस वक़्त दुनिया के बाक़ी देशों से कहीं ज़्यादा है। कोरोना से होने वाली मौतों में एक बड़ा हिस्सा उन लोगों का है जिन्हें समय पर ऑक्सीजन, दवाई, बेड उपलब्ध नहीं हो सका।

मेडिकल ऑक्सीजन की कमी से बने भयावह हालात का सबसे विकराल रूप दिल्ली में देखा गया लेकिन इस गम्भीर समस्या का समाधान ढूँढ़ने के बजाय दिल्ली और केन्द्र सरकार में तू नंगा-तू नंगा का खेल चलता रहा। इसी बीच ऑक्सीजन की आपूर्ति न होने से सैकड़ो लोगों की असमय मृत्यु हो गयी। सर गंगाराम जैसे जाने-माने अस्पताल में ऑक्सीजन न मिलने से 25 लोगों ने दम तोड़ दिया, वहीं बत्रा, जयपुर गोल्डन अस्पताल में भी यही आलम रहा। देश के अन्य राज्यों में भी यही स्थिति बनी रही। उत्तर प्रदेश में हालात की भयंकरता का अन्दाज़ा इस तस्वीर से लगाया जा सकता है कि लोग सड़कों पर लाशों को जलाने के लिए मजबूर हैं। इस पूरे हालात की चेतवानी पिछले एक साल से डॉक्टर्स और कोविड माहिर सरकारों को दे रहे हैं लेकिन समय रहते न ही केन्द्र सरकार ने और न राज्य सरकारों ने कोई पुख़्ता इन्तज़ाम किया। नतीजतन, ऑक्सीजन और दवा-इलाज की भयानक कमी से मौत और मायूसी ने हर शहर, मोहल्ले को अपना निशाना बना लिया। कोरोना और ख़स्ताहाल स्वास्थ्य व्यवस्था की वजह से हो रही इन मौतों को मौत कहना ग़लत होगा। ये जानें बचायी जा सकती थीं लेकिन इस मुनाफ़ाख़ोर रक्तपिपासु व्यवस्था व नरभक्षी फ़ासिस्ट सरकार की नीतियों की वजह से की जाने वाली हत्याएँ हैं ये!

क्या ऑक्सीजन, दवा, बेड, क्वारण्टाइन सेण्टर्स का इन्तज़ाम करने के लिए एक साल का वक़्त कम था?

क्यों ऑक्सीजन की आपूर्ति समय पर नहीं की गयी?

इसका सीधा सा जवाब यह है कि हमारी सरकारों ने चिकित्सकों, विशेषज्ञों के बार-बार कहने के बावजूद भी कोरोना की दूसरे लहर से निपटने का कोई इन्तज़ाम नहीं किया। हमारे हुक्मरानों की प्राथमिकता में आम लोगों की ज़िन्दगी नहीं थी, बल्कि बंगाल चुनाव जीतने की तैयारी से लेकर कुम्भ की भीड़ आयोजित करना और सेण्ट्रल विस्टा बनवाना उनका प्रमुख काम बना रहा।

कोविड महामारी के शुरू होने से पहले भारत को हर दिन 700 मेट्रिक टन लिक्विड मेडिकल ऑक्सीजन की ज़रूरत होती थी। कोविड की पहले लहर (सितम्बर 2020) के वक़्त जब एक लाख केस प्रतिदिन दर्ज किये जा रहे थे तब ऑक्सीजन की ज़रूरत बढ़कर 2800 मीट्रिक टन पहुँच गयी। आज जब संक्रमित मामलों की संख्या (अप्रैल ’21 तक) पहले से तीन गुना अधिक बढ़ गयी है (1 मई को यह आँकड़ा 4 लाख पर कर गया) तो इस हिसाब से ऑक्सीजन की ज़रूरत भी तीन गुना बढ़कर 8400 मेट्रिक टन हो गयी है।

अखिल भारतीय औद्योगिक गैस निर्माता संघ (एआईआईजीएमए) के अध्यक्ष साकेत टिक्कू ने बताया कि “राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली में उत्तर या पश्चिम भारत के कई राज्यों में ऑक्सीजन की क़िल्लत की मुख्य वजह यह है कि ऑक्सीजन का सबसे अधिक उत्पादन ओडिशा या झारखण्ड जैसे पूर्वी राज्यों में होता है और इस ऑक्सीजन को दिल्ली तक आने में तक़रीबन 1,500 किलोमीटर तक का सफ़र तय करना पड़ता है। लिक्विड या तरल ऑक्सीजन को क्रायोजेनिक कण्टेनर में ही एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जा सकता है। भारत में हुए ऑक्सीजन के संकट की एक बड़ी वजह क्रायोजेनिक कण्टेनरों की सीमित उपलब्धता है और अगर आज नये क्रायोजेनिक कण्टेनर बनाने के ऑर्डर दिये जायें तो उनकी डिलीवरी में 5 से 6 महीने का वक़्त लगेगा।”

हमारे पास पूरे एक साल का समय था! ऑक्सीजन की बढ़ती माँग के कारण भारत की उत्पादन क्षमता को बढ़ाकर 8500 से 9000 टन प्रतिदिन तक लाया जा चुका है पर चिंता की बात यह है कि ऑक्सीजन की माँग अब भी इससे अधिक है। वे कहते हैं, “यह कहा जा सकता है कि केन्द्र और राज्य सरकारें पिछले साल सितम्बर से इस साल मार्च तक सो गयी थीं।”

क्रायोजेनिक कण्टेनर के अलावा चिकित्सक और माहिर लगातार यह कह रहे थे कि इस चुनौतीपूर्ण स्थिति से निपटने के लिए अस्पतालों के अन्दर ऑक्सीजन सप्लाई करने के लिए ज़रूरी बुनियादी ढाँचे का निर्माण किया जाना चाहिए था मगर ये फ़ासिस्ट सरकार स्वास्थय व्यवस्था ठीक करने के बजाय कुम्भ आयोजित कर लोगों की मौत की तैयारी में व्यस्त रही। इस वक़्त लोगों को हज़ारों करोड़ वाले सेण्ट्रल विस्टा की ज़रूरत नहीं थी बल्कि अगर इन पैसों का इस्तेमाल ऑक्सीजन प्लाण्ट लगाने में, डॉक्टर-नर्स की भर्ती करने में, क्वारण्टाइन सेण्टर बनाने में ख़र्च किया जाता तो हम देश को श्मशान में तब्दील होने से बचा सकते थे!

कितने ही लोग अस्पताल में जगह न मिलने की वजह से सड़कों पर मरने के लिए मजबूर हुए, समय रहते अगर ख़ाली पड़े इमारतों, होटलों, स्टेडियम में बेड व चिकित्सा सुविधा का इन्तज़ाम किया जाता तो हम इस भयावह परिस्थिति के साक्षी होने से बच सकते थे। आम जनता की चिंताओं पर अपने लिए आरामगाह बनवाने वाली इस हत्यारी सरकार से अब कोई और उम्मीद करना हमारी मूर्खता होगी। लोगों के कफ़न तक में घोटाला करने वाले इस सरकार के नेता-मंत्रियों ने इस महामारी के वक़्त जीवनरक्षक दवाइयों की कालाबाज़ारी करने में कोई कमी नहीं की। गौतम गम्भीर जहाँ दिल्ली स्थित अपने आवास पर रेमिडिसिवर को ऊँचे दामों पर बेचने में व्यस्त थे वहीं बिहार में भाजपा के सांसद राजीव प्रताप रूडी के घर के आगे 60 एम्बुलेंस बरामद की जा रही थीं।

लोगों की लाशों पर पैसा कमाने और राजनीति करने में व्यस्त इन हत्यारों की वजह से आम मेहनतकश जनता मरने को मजबूर है। फ़ासीवादी भाजपा सरकार ने स्वास्थ्य पर होने वाले ख़र्च को लगातार कम किया है। मालूम हो कि जीडीपी का मात्र 1.28% ही स्वास्थ के क्षेत्र में ख़र्च किया जाता है जिसका नतीजा ये ख़स्ताहाल स्वास्थ्य व्यवस्था है। देश में तक़रीबन 12,500 मरीज़ों पर केवल 1 डॉक्टर उपलब्ध है मगर फिर भी हमें मूर्तियों और मन्दिरों की ज़्यादा ज़रूरत है! स्वास्थ्य सेवाओं का निजीकरण करके काफ़ी पहले ही आम लोगों से स्वास्थ्य का अधिकार छीना जा चुका है। स्पेन जैसे पूँजीवादी देश तक ने इस महामारी से लोगों की जीवनरक्षा के लिए तमाम प्राइवेट अस्पतालों का राष्ट्रीकरण कर उन्हें सरकारी नियंत्रण में ले लिया और सभी के लिए एक समान इलाज की व्यवस्था की। क्या स्पेन की तरह भारत में भी स्वास्थ्य के ढाँचे का राष्ट्रीकरण करके युद्ध स्तर पर कोरोना से लड़ने की तैयारी नहीं की जा सकती थी?

देश की समूची स्वास्थ्य व्यवस्था का राष्ट्रीकरण करके, उसे सरकारी नियंत्रण में लाकर सभी के लिए निःशुल्क और एक समान दवा-इलाज की व्यवस्था कर इस स्थिति की भयंकरता को कम किया जा सकता था। और हाँ! हर तरफ़ मौत के इस ताण्डव से बचा जा सकता था।

अभी भी सरकार कोरोना वैक्सीन को पेटेण्ट मुक्त कर और युद्धस्तर पर इसका उत्पादन कर प्रत्येक नागरिक तक पहुँचा सकती है।

स्वास्थ्य के अधिकार पर हमला हमारे जीने के अधिकार पर हमला है। लोगों की मौत का कारण बनी यह आदमख़ोर पूँजीवादी व्यवस्था और हत्यारी फ़ासीवादी सरकार हमें ये अधिकार नहीं दे सकती। संकट की इस परिस्थिति ने एक बार फिर मानवकेन्द्रित समाजवादी व्यवस्था की ज़रूरत को महसूस कराया है। सभी को एक समान और निःशुल्क स्वास्थ्य सेवा ही आने वाली ऐसी विभीषिकाओं से हमें बचा सकती है।

बिना योजना थोपा गया लॉकडाउन और मज़दूरों के हालात

(पेज 5 से आगे)

सब क़ानून तब लागू किये गये जब कोरोना के कारण पूरे देश में लॉकडाउन जैसे हालात बने हुए हैं। इस समय भी मोदी सरकार मालिकों की जेब भरने में कोई कोताही नहीं बरत रही है।

राज्य सरकारें भी भाजपा की ही तरह रुख़ अख़्तियार किये हुए हैं। बिना योजना के लॉकडाउन लगाने के बाद मज़दूरों के राशन-पानी या उनके लिए गुज़ारे भत्ते की बात किसी भी मुख्यमंत्री ने नहीं की। दिल्ली में केजरीवाल ने भी लॉकडाउन लगा दिया, पर दिल्ली में रहने वाली मज़दूर आबादी के लिए इसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला, बस “मैं हूँ ना” सरीखा मज़ाक़ करते रहे। यूपी में फ़ासिस्ट योगी सरकार ने तो पिछले साल लॉकडाउन में ही सारे श्रम क़ानूनों की धज्जियाँ उड़ाकर मज़दूरों को ग़ुलाम बनाने की तैयारी शुरू कर दी थी। इसी कारण यूपी मॉडल, गुजरात मॉडल से आगे निकल चुका है। योगी ऑक्सीजन, बेड के लिए शिकायत करने वालों पर राजद्रोह लगा रहा है। महाराष्ट्र में उद्धव सरकार ने जैसे ही सम्पूर्ण लॉकडाउन लगाया वैसे ही पिछली बार की ही तरह वहाँ से प्रवासी मज़दूरों का पलायन शुरू हो गया। मुम्बई से सटे ठाणे, नवी मुम्बई और पालघर ज़िले के बॉर्डर पर मज़दूरों का बड़े पैमाने पर पलायन शुरू हो गया।

कोरोना से पहले ही पूँजीवादी व्यवस्था भयानक मन्दी के दौर से गुज़र रही थी, कोरोना ने इस संकट को और गहरा बना दिया है। मालिकों की मुनाफ़े की दर गिरने के कारण मन्दी उत्पन्न होती है। अपनी मुनाफ़े की दर को बढ़ाने के लिए पूँजीपति वर्ग किसी भी हद तक जा सकता है और उसका सबसे बड़ा निशाना मज़दूर वर्ग ही होता है। कोरोना संकट को भी अवसर में तब्दील करते हुए मज़दूरों के अधिकार को छीनने का काम अपनी मैनेजिंग कमेटी के द्वारा जारी रखा।

पिछले वर्ष आनन-फ़ानन में लगाये गये अनियोजित लॉकडाउन के ख़िलाफ़ मज़दूरों ने कई जगहों पर स्वतःस्फूर्त तरीक़े से आवाज़ उठायी थी। आज देश के अलग-अलग राज्यों में हुए अनियोजित लॉकडाउन के ख़िलाफ़ अपनी माँगों को लेकर हमें सचेतन एकजुट होना होगा और ऐलान करना होगा कि न हमें कोरोना से मौत मंज़ूर है, न भूख से और न बेरोज़गारी से।

हमारी तात्कालिक माँगें :

1. पूरे देश में समूची स्वास्थ्य व्यवस्था का तत्काल राष्ट्रीकरण करो! सभी को एक समान सार्वभौमिक और निःशुल्क स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करो और स्वास्थ्य के अधिकार को मूलभूत अधिकार घोषित करो!

2. सभी निजी अस्पतालों, नर्सिंग होमों, पैथोलॉजी लैबों, दवा कम्पनियों, कोरोना वैक्सीन फ़ैक्टरियों और चिकित्सा-सामग्री निर्माण उद्योगों का राष्ट्रीकरण करो! कोरोना वैक्सीन को पेटेण्ट से मुक्त करो!

3. आबादी के अनुपात में व्यापक पैमाने पर डॉक्टरों व स्वास्थ्यकर्मियों की तत्काल पक्की भर्ती करो!

4. देश के प्रत्येक नागरिक तक सार्वभौमिक राशन वितरण प्रणाली से भोजन की आपूर्ति की जाये!

5. बिना किसी तैयारी के थोपे जा रहे अनियोजित लॉकडाउन को तत्काल रोका जाये। लॉकडाउन की क़ाबिल डॉक्टरों-वैज्ञानिकों के बहुलांश द्वारा संस्तुति करने पर भी इसे तभी लागू किया जाये जब सरकार प्रत्येक नागरिक तक खाद्य सामग्री पहुँचाया जाना सुनिश्चित करे और प्रत्येक नागरिक को सीधे न्यूनतम आमदनी मुहैया कराये।

6. मज़दूरों-कर्मचारियों की कोरोना संक्रमण से सुरक्षा की व्यवस्था की जाये तथा संक्रमितों को सवैतनिक अवकाश दिया जाये!

7. सभी स्टेडियमों, बैंक्वेट हॉलों, होटलों और ख़ाली सरकारी इमारतों को सरकारी कोविड सेण्टरों में तब्दील करो!

मई दिवस की कहानी

– सत्यप्रकाश

मज़दूरों का त्योहार मई दिवस आठ घण्टे काम के दिन के लिए मज़दूरों के शानदार आन्दोलन से पैदा हुआ। उसके पहले मज़दूर चौदह से लेकर 16-18 घण्टे तक खटते थे। कई देशों में काम के घण्टों का कोई नियम ही नहीं था।

"सूरज उगने से लेकर रात होने तक" मज़दूर कारख़ानों में काम करते थे। दुनियाभर में इस माँग को लेकर अलग-अलग आन्दोलन होते रहे थे। भारत में भी 1862 में ही मज़दूरों ने इस माँग पर कामबन्दी की थी। लेकिन पहली बार बड़े पैमाने पर इसकी शुरुआत अमेरिका में हुई।

मज़दूरों ने अपने अनुभवों से समझ लिया था कि उनकी एकता ही उनकी सबसे बड़ी ताक़त है।

अमेरिका में एक विशाल मज़दूर वर्ग पैदा हुआ था। इन मज़दूरों ने अपने बलिष्ठ हाथों से अमेरिका के बड़े-बड़े शहर बसाये, सड़कों और रेल पटरियों का जाल बिछाया, नदियों को बाँधा, गगनचुम्बी इमारतें खड़ी कीं और पूँजीपतियों के लिए दुनिया भर के ऐशो-आराम के साधन जुटाये।

उस समय अमेरिका में मज़दूरों को 12 से 18 घण्टे तक खटाया जाता था। बच्चों और महिलाओं का 18 घण्टों तक काम करना आम बात थी। अधिकांश मज़दूर अपने जीवन के 40 साल भी पूरे नहीं कर पाते थे। अगर मज़दूर इसके ख़िलाफ़ आवाज़ उठाते थे तो उन पर निजी गुण्डों, पुलिस और सेना से हमले करवाये जाते थे!

उनके जीवन और मृत्यु में वैसे भी कोई फ़र्क नहीं था, इसलिए उन्होंने लड़ने का फ़ैसला किया! 1877 से 1886 तक मज़दूरों ने अमेरिका भर में आठ घण्टे के कार्यदिवस की माँग पर एकजुट और संगठित होना शुरू किया। 1886 में पूरे अमेरिका में मज़दूरों ने 'आठ घण्टा समितियाँ' बनायीं। शिकागो में मज़दूरों का आन्दोलन सबसे अधिक ताक़तवर था। वहाँ पर मज़दूरों के संगठनों ने तय किया कि 1 मई के दिन सभी मज़दूर अपने औज़ार रखकर सड़कों पर उतरेंगे और आठ घण्टे के कार्यदिवस का नारा बुलन्द करेंगे।

एक मई 1886 को पूरे अमेरिका के लाखों मज़दूरों ने एक साथ हड़ताल शुरू की। इसमें 11,000 फ़ैक्टरियों के कम से कम तीन लाख अस्सी हज़ार मज़दूर शामिल थे। शिकागो महानगर के आसपास सारा रेल यातायात ठप्प हो गया और शिकागो के ज़्यादातर कारख़ाने और वर्कशाप बन्द हो गये। शहर के मुख्य मार्ग मिशिगन एवेन्यू पर अल्बर्ट पार्सन्स के नेतृत्व में मज़दूरों ने एक शानदार जुलूस निकला।

मज़दूरों की बढ़ती ताक़त से भयभीत उद्योगपति उन पर हमला करने की घात में थे। सारे अख़बार (जिनके मालिक पूँजीपति ही थे) **"लाल ख़तरे"** के बारे में चिल्ल-पों मचा रहे थे। पूँजीपतियों ने आसपास से भी पुलिस के सिपाही और सुरक्षाकर्मियों को बुला रखा था। इसके अलावा कुख्यात पिंकरटन एजेंसी के गुण्डों को भी हथियारों से लैस करके मज़दूरों पर हमला करने के लिए तैयार रखा गया था। पूँजीपतियों ने इसे "आपात स्थिति" घोषित कर दिया था। शहर के तमाम धन्नासेठों और व्यापारियों की बैठक लगातार चल रही थी जिसमें इस "ख़तरनाक स्थिति" से निपटने पर विचार किया जा रहा था।

3 मई को शहर के हालात बहुत तनावपूर्ण हो गये जब मैकॉर्मिक हार्वेस्टिंग मशीन कम्पनी के मज़दूरों ने दो महीने से चल रही तालाबन्दी के विरोध में और आठ घण्टे काम के दिन के समर्थन में कार्रवाई शुरू कर दी। निहत्थे मज़दूरों पर गोलियाँ चलायी गयीं। चार मज़दूर मारे गये और बहुत से घायल हुए। अगले दिन भी मज़दूर ग्रुपों पर हमले जारी रहे। पुलिस दमन के ख़िलाफ़ चार मई की शाम को शहर के मुख्य बाज़ार हे मार्केट स्क्वायर में एक जनसभा रखी गयी। मीटिंग रात आठ बजे शुरू हुई। क़रीब तीन हज़ार लोगों के बीच अल्बर्ट पार्सन्स और ऑगस्टस स्पाइस ने मज़दूरों का आह्वान किया कि वे एकजुट और संगठित रहकर पुलिस दमन का मुक़ाबला करें। तीसरे वक्ता सैमुअल फ़ील्डेन बोलने के लिए जब खड़े हुए तो रात के दस बज रहे थे और ज़ोरों की बारिश शुरू हो गयी थी।

इस समय तक स्पाइस और पार्सन्स अपनी पत्नी और दो बच्चों के साथ वहाँ से जा चुके थे। भीड़ बहुत कम हो चुकी थी — क़रीब दो सौ लोग ही रह गये थे। मीटिंग क़रीब-क़रीब ख़त्म हो चुकी थी कि 180 पुलिसवालों का एक जत्था धड़धड़ाते हुए हे मार्केट स्क्वायर आ पहुँचा। उसकी अगुवाई कैप्टन बॉनफ़ील्ड कर रहा था जिससे शिकागो के नागरिक उसके क्रूर और बेहूदे स्वभाव के कारण नफ़रत करते थे। मीटिंग में शामिल लोगों को चले जाने का हुक्म दिया गया। सैमुअल फ़ील्डेन पुलिसवालों को यह बताने की कोशिश ही कर रहे थे कि यह शान्तिपूर्ण सभा है, कि इसी बीच किसी ने मानो इशारा पाकर एक बम फेंक दिया। आज तक बम फेंकने वाले का पता नहीं चल पाया है लेकिन यह माना जाता है कि बम फेंकने वाला पुलिस का भाड़े का टट्टू था।

स्पष्ट था कि बम का निशाना मज़दूर थे लेकिन पुलिस चारों और फैल गयी थी और नतीजतन बम का प्रहार पुलिस वालों पर हुआ। एक मारा गया और पाँच घायल हुए। पगलाये पुलिसवालों ने चौक को चारों ओर से घेरकर भीड़ पर अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलानी शुरू कर दीं। जिसने भी भागने की कोशिश की उस पर गोलियाँ और लाठियाँ बरसायी गयीं। छह मज़दूर मारे गये और 200 से ज़्यादा ज़ख़्मी हुए। मज़दूरों ने अपने ख़ून से अपने कपड़े रँगकर उन्हें ही झण्डा बना लिया।

इस घटना के बाद पूरे शिकागो में पुलिस ने मज़दूर बस्तियों, मज़दूर संगठनों के दफ़्तरों, छापाख़ानों आदि में ज़बर्दस्त छापे डाले। सैकड़ों लोगों को मामूली शक पर पीटा गया और बुरी तरह टॉर्चर किया गया। हज़ारों गिरफ़्तार किये गये।

आठ मज़दूर नेताओं – अल्बर्ट पार्सन्स, ऑगस्टस स्पाइस, जार्ज एंजेल, एडॉल्फ़ फ़िशर, सैमुअल फ़ील्डेन, माइकेल श्वाब, लुइस लिंग्ग और आस्कर नीबे पर मुक़दमा चलाकर उन्हें हत्या का मुज़रिम क़रार दिया गया। इनमें से सिर्फ़ एक, सैमुअल फ़ील्डेन बम फटने के समय घटना स्थल पर मौजूद था। जब मुक़दमा शुरू हुआ तो सात लोग ही कठघरे में थे। अल्बर्ट पार्सन्स पुलिस की पकड़ में आने से बच सकता था लेकिन उसे यह गवारा नहीं था कि वह आज़ाद रहे जबकि उसके बेक़सूर साथी फ़र्ज़ी मुक़दमे में फँसाये जायें। पार्सन्स ख़ुद अदालत में आया और जज से कहा, "मैं अपने बेक़सूर कॉमरेडों के साथ कठघरे में खड़ा होने आया हूँ।"

पूँजीवादी न्याय के लम्बे नाटक के बाद 20 अगस्त 1887 को शिकागो की अदालत ने अपना फ़ैसला दिया। सात लोगों को सज़ाए-मौत और एक (नीबे) को पन्द्रह साल क़ैद बामशक़्क़त की सज़ा सुनायी गयी। **स्पाइस** ने अदालत में चिल्लाकर कहा था कि **"अगर तुम सोचते हो कि हमें फाँसी पर लटकाकर तुम मज़दूर आन्दोलन को... ग़रीबी और बदहाली में कमरतोड़ मेहनत करनेवाले लाखों लोगों के आन्दोलन को कुचल डालोगे, अगर यही तुम्हारी राय है – तो ख़ुशी से हमें फाँसी दे दो। लेकिन याद रखो ... आज तुम एक चिंगारी को कुचल रहे हो लेकिन यहाँ-वहाँ, तुम्हारे पीछे, तुम्हारे सामने, हर ओर लपटें भड़क उठेंगी। यह जंगल की आग है। तुम इसे कभी भी बुझा नहीं पाओगे।"**

अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट ने पहले तो अपील मानने से इन्कार कर दिया लेकिन सारे अमेरिका और तमाम दूसरे देशों में इस क्रूर फ़ैसले के ख़िलाफ़ भड़क उठे जनता के ग़ुस्से के दबाव में बाद में इलिनॉय प्रान्त के गर्वनर ने फ़ील्डेन और श्वाब की सज़ा को आजीवन कारावास में बदल दिया। 10 नवम्बर 1887 को सबसे कम उम्र के नेता लुइस लिंग्ग ने कालकोठरी में आत्महत्या कर ली।

अगला दिन (11 नवम्बर 1887) मज़दूर वर्ग के इतिहास में काला शुक्रवार था। पार्सन्स, स्पाइस, एंजेल और फ़िशर को शिकागो की कुक काउण्टी जेल में फाँसी दे दी गयी। अफ़सरों ने मज़दूर नेताओं की मौत का तमाशा देखने के लिए शिकागो के दो सौ धनवान शहरियों को बुला रखा था। लेकिन मज़दूरों को डर से काँपते-घिघियाते देखने की उनकी तमन्ना धरी की धरी रह गयी।

वहाँ मौजूद एक पत्रकार ने बाद में लिखा: **"चारों मज़दूर नेता क्रान्तिकारी गीत गाते हुए फाँसी के तख़्ते तक पहुँचे और शान के साथ अपनी-अपनी जगह पर खड़े हो गये। फाँसी के फन्दे उनके गलों में डाल दिये गये। स्पाइस का फन्दा ज़्यादा सख़्त था, फ़िशर ने जब उसे ठीक किया तो स्पाइस ने मुस्कुराकर धन्यवाद कहा। फिर स्पाइस ने चीख़कर कहा, 'एक समय आयेगा जब हमारी ख़ामोशी उन आवाज़ों से ज़्यादा ताक़तवर होगी जिन्हें तुम आज दबा रहे हो।...' फिर पार्सन्स ने बोलना शुरू किया, 'मेरी बात सुनो... अमेरिका के लोगो! मेरी बात सुनो ... जनता की आवाज़ को दबाया नहीं जा सकेगा...' लेकिन इसी समय तख़्ता खींच लिया गया।"**

13 नवम्बर 1887 को चारों मज़दूर नेताओं की शवयात्रा शिकागो के मज़दूरों की एक विशाल रैली में बदल गयी। छह लाख से भी ज़्यादा लोग इन नायकों को आख़िरी सलाम देने के लिए सड़कों पर उमड़ पड़े।

स्पाइस की कही बात की सच्चाई को इतिहास साबित करता रहा है। उसके बाद से 134 साल बीत चुके हैं। मज़दूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच का संघर्ष एक पल को भी थमा नहीं है। मज़दूरों ने कई बार, कई देशों में पूँजी के राज को ध्वस्त कर बराबरी और इन्साफ़ पर टिका समाज भी क़ायम किया। ये मज़दूर राज आज हारे जा चुके हैं, पूँजी और श्रम के ऐतिहासिक महासमर में आज पूँजी का पलड़ा भारी है। अकूत क़ुर्बानियों के बल पर जीते गये 8 घण्टे काम सहित अनेक अधिकार आज मज़दूरों से छीन लिये गये हैं। लेकिन लड़ाई जारी है।

अनगिन संघर्षों में बहा करोड़ों मज़दूरों का ख़ून इतनी आसानी से धरती में जज़्ब नहीं होगा। फाँसी के तख़्ते से गूँजती स्पाइस की पुकार पूँजीपतियों के दिलों में ख़ौफ़ पैदा करती रहेगी। अनगिन मज़दूरों के ख़ून की आभा से चमकता लाल झण्डा आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता रहेगा।

विदा कॉमरेड मीनाक्षी, लाल सलाम!

हमारी वरिष्ठतम कामरेड मीनाक्षी 21 अप्रैल की सुबह हमारे बीच नहीं रहीं।

कोविड की महामारी और इस हत्यारी सरकार की आपराधिक लापरवाही ने उन्हें हमसे छीन लिया। हम जीवनरक्षक दवाओं और प्लाज़्मा डोनर के लिए तीन दिनों तक ज़मीन-आसमान एक करते रहे, ऑक्सीजन और अस्पताल में बेड के लिए दौड़ते रहे। जब कुछ सफलता मिली, तभी कई दिनों की जद्दोजहद से थकी हुई साँसों ने का. मीनाक्षी का साथ छोड़ दिया। कोविड की महामारी जो क़हर बरपा कर रही है, उसे इस हत्यारी व्यवस्था ने सौ गुना बढ़ा दिया है। हम इस फ़ासिस्ट सत्ता के ऐतिहासिक अपराध को कभी नहीं भूलेंगे, कभी नहीं माफ़ करेंगे।

कई निकटवर्ती और दूर के शहरों से ऑक्सीजन और जीवनरक्षक दवाएँ जुटाने के लिए साथी दिन-रात एक किये रहे और क़ीमती समय हाथ से फिसलता चला गया। कठिन मेहनत से काला बाज़ार से हासिल ऑक्सीजन और दवाएँ काम न आ सकीं और का. मीनाक्षी का बहुमूल्य जीवन हम बचा नहीं सके। का. मीनाक्षी सिर्फ़ कोविड का ही शिकार नहीं हुईं, बल्कि उससे भी अधिक इस हत्यारी बर्बर बुर्जुआ व्यवस्था का शिकार हुईं, जिसने आज पूरे देश को एक मृत्यु उपत्यका में बदल डाला है। यह बात हम कभी नहीं भूलेंगे!

21 अप्रैल की शाम को का. मीनाक्षी के शरीर को लाल झण्डे में लपेटकर कई शहरों से आये कॉमरेडों के लाल सलाम के नारों के साथ अन्तिम विदाई दी गयी।

22 अप्रैल को अनुराग पुस्तकालय में का. मीनाक्षी की स्मृति सभा में उपस्थित कामरेडों ने अपनी वरिष्ठतम कामरेड के व्यक्तित्व और जीवन के विविध पक्षों और रंगों को भावविह्वल होकर याद किया, उनके साथ बिताये गये अपने दिनों की चर्चा की और यह संकल्प लिया कि वे शोक को शक्ति में बदलकर आजीवन मज़दूर क्रान्ति और मानव-मुक्ति की उस परियोजना को मूर्त रूप देने में जुटे रहेंगे जिसमें का. मीनाक्षी ने अपना पूरा जीवन लगा दिया।

का. मीनाक्षी से गहन भावनात्मक स्तर पर जुड़े सैकड़ों कार्यकर्ता और हमदर्द साथी गोरखपुर, बनारस, लखनऊ, दिल्ली, इलाहाबाद, कानपुर आदि शहरों में बिखरे हुए हैं। देश के विभिन्न हिस्सों के जो साथी उनसे विविध आयोजनों में मिले थे, वे भी उनके निश्छल, सरल, पारदर्शी व्यक्तित्व और बेहद जनवादी मृदुल व्यवहार के कारण बहुत निकटता महसूस करते थे। लेकिन कोविड दुष्काल में स्मृति सभा में उनका आ पाना किसी भी तरह से सम्भव नहीं था। हालात देखकर लखनऊ के मित्रों-शुभचिंतकों को भी या तो सूचना नहीं दी गयी, या आग्रहपूर्वक आने से रोक दिया गया। फिर भी शहर के सभी सहकर्मी कामरेडों के साथ गोरखपुर, इलाहाबाद, पटना, दिल्ली, हरियाणा और पंजाब के कई साथी स्मृति सभा में शामिल हुए, जिनमें का. मीनाक्षी के दशकों के राजनीतिक जीवन के सहयात्री वरिष्ठ साथियों से लेकर वे युवा साथी भी शामिल थे जिन्होंने विभिन्न मोर्चों पर उनके साथ काम किया था और राजनीतिक शिक्षा-दीक्षा ली थी। इनके साथ ही कुछ वे साथी भी उपस्थित थे जिनका बचपन गोरखपुर में मीनाक्षी के निर्देशन में संचालित बाल कम्यून में बीता था। सभा में सभी वक्ताओं ने अपनी दिवंगत कामरेड के साथ बिताये गये दिनों को याद किया।

का. मीनाक्षी 1980 में ही एक हमदर्द के रूप में क्रान्तिकारी वाम आन्दोलन से जुड़ चुकी थीं। इस भूमिका को और प्रभावी बनाने के लिए ओ.एन.जी.सी के अधिकारी पद की नौकरी ठुकरा कर उन्होंने दो वर्ष तक मुम्बई हाई कोर्ट में प्रैक्टिस की, और फिर पूरा समय राजनीतिक कामों में देने के फ़ैसले के साथ गोरखपुर लौट आयीं। 1985-86 से एक पूरावक्ती संगठनकर्ता के रूप में उनके जीवन की नयी शुरुआत हुई। इन छत्तीस वर्षों के दौरान उन्होंने गोरखपुर, कानपुर, बनारस, लखनऊ और दिल्ली में छात्रों-युवाओं के बीच, स्त्री मज़दूरों के बीच, आम मेहनतकश आबादी के बीच और बुद्धिजीवियों के बीच काम किया, कामरेडों के परिवारों के बच्चों को लेकर एक बाल कम्यून चलाने का मौलिक और सफल प्रयोग किया तथा शुरुआत से ही 'जनचेतना' पुस्तक प्रतिष्ठान के साथ ही हम लोगों के प्रकाशन प्रभाग के एक स्तम्भ की भूमिका निभायी। राहुल फ़ाउण्डेशन की कार्यकारिणी की वह संस्थापक सदस्य थीं। इस समय वह 'अरविन्द स्मृति न्यास' की अध्यक्ष की ज़िम्मेदारी सम्हालने के साथ ही 'कोंपल' बाल पत्रिका और 'अनुराग ट्रस्ट' के बाल साहित्य के सम्पादन और प्रकाशन का काम भी देख रही थीं।

वे एक कुशल लेखक और अनुवादक भी थीं। 'दायित्वबोध, 'आह्वान', 'मज़दूर बिगुल', 'रविवार', 'जनसत्ता', 'समयान्तर' आदि में उनके अनेक लेख और अनुवाद प्रकाशित हुए थे। उन्होंने मैरी वोल्सटनक्राफ़्ट की प्रसिद्ध कृति 'स्त्री अधिकारों का औचित्य-साधन' का भी अनुवाद किया था जो राजकमल प्रकाशन की विश्व क्लासिक्स श्रृंखला में प्रकाशित हुआ।

का. मीनाक्षी बच्चों के मोर्चे पर और क्रान्ति के युवा उत्तराधिकारियों की तैयारी पर बहुत अधिक बल देती थीं और आश्चर्य नहीं कि उनके सानिध्य में शिक्षित-प्रशिक्षित युवा क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं की एक पूरी क़तार आज हमारे साथ है जो उनके सपनों को पूरा करने के लिए आजीवन संघर्षरत रहने को संकल्पबद्ध है। देश के विभिन्न हिस्सों में ऐसे ढेर सारे मेहनतकश और बुद्धिजीवी साथी हैं जो का. मीनाक्षी के ओजस्वी, सरल, निश्छल, पारदर्शी, प्रेरक व्यक्तित्व और मृदुल जनवादी व्यवहार को कभी नहीं भूल सकते।

लगभग एक दशक से कुछ अधिक समय के भीतर हमने का. अरविन्द, शालिनी और नितिन जैसे साथियों के बाद का. मीनाक्षी को भी खो दिया। का. मीनाक्षी, का. अरविन्द की जीवन साथी भी थीं और सही मायने में दोनों एक-दूसरे के लिए बने थे। इत्तेफ़ाक़ यह भी है कि का. शालिनी ने भी लम्बे समय तक जनचेतना और प्रकाशन के मोर्चे पर अपनी प्रिय मीनाक्षी दी के साथ काम किया था। आज, इस कठिन अन्धकारमय समय में ये अप्रतिम साथी हमारे साथ नहीं हैं, लेकिन उनका जीवन हमारी प्रेरणा है और उनकी स्मृतियाँ हमारी शक्ति हैं।

का. मीनाक्षी के सपनों, विचारों और संघर्षों के सच्चे उत्तराधिकारी अभी भी मैदान में डटे हुए हैं और आगे भी डटे रहेंगे। माना कि इतिहास आज एक अन्धी सुरंग से गुज़र रहा है। लेकिन रोशनी की घाटी की ओर यात्रा जारी रहेगी। हमारा कारवाँ चलता रहेगा, बढ़ता रहेगा!

विदा कामरेड मीनाक्षी! आप हमारे संकल्पों में हमेशा जीवित रहेंगी! लाल सलाम! लाल सलाम!!

– अरविन्द स्मृति न्यास, राहुल फ़ाउण्डेशन, अनुराग ट्रस्ट और जनचेतना के साथी।

– नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन, बिगुल मज़दूर दस्ता, स्त्री मुक्ति लीग, स्त्री मज़दूर संगठन और विभिन्न मज़दूर संगठनों, यूनियनों तथा बौद्धिक मंचों के साथी।

कॉमरेड मीनाक्षी को क्रान्तिकारी श्रद्धांजलि

(माओइस्ट कम्युनिस्ट ग्रुप (यूएसए) 1 मई, 2021)

एक शानदार योद्धा और सर्वहारा वर्ग की शिक्षिका कॉ. मीनाक्षी, कोविड-19 से एक सप्ताह तक जूझने के बाद 21 अप्रैल को हमारे बीच नहीं रहीं। विश्व के दूसरे भाग में, एक अलग महाद्वीप पर होने के बावजूद हम इस क्षति को अपनी व्यक्तिगत क्षति के रूप में महसूस करते हैं। हम लोगों में से कुछ को लखनऊ में कॉमरेड मीनाक्षी के साथ लखनऊ में समय बिताने का अवसर मिला। भाषा अलग होने के बावजूद, दोनों भाषाओं की जानकारी रखने वाले कॉमरेडों की मदद से, हमें रात में खाने की मेज़ पर भारत में वर्ग संघर्ष से लेकर अमेरिका में क्रान्तिकारी कविता जैसे विषयों पर विचारों और अनुभवों के आदान-प्रदान का मौक़ा मिला, जिसके बीच-बीच में आपकी निश्छल हँसी आज भी हमारे कानों में गूँज रही है।

बाबुश्किन की मृत्यु के अवसर पर लेनिन द्वारा कहे गये शब्दों में कहें तो: हम वास्तव में शापित परिस्थितियों में जी रहे हैं, जब यह सम्भव है कि एक प्रमुख सांगठनिक कार्यकर्ता, एक वरिष्ठ कॉमरेड, जिसने बिना किसी स्वार्थ के अपना जीवन मेहनतकशों के लक्ष्य के लिए समर्पित कर दिया, की मृत्यु इसलिए हो जाये क्योंकि फ़ासीवादी बुर्जुआ सत्ताधारियों ने अपनी सभी ज़िम्मेदारियों से मुँह मोड़ लिया है। मोदी एण्ड कम्पनी ने मज़दूर वर्ग और आम जनता की सबसे महत्वपूर्ण ज़रूरतों पर पूँजीवादी हमलों को और तेज़ कर दिया है। फ़ासिस्टों ने जीवन और मौत के सवाल को ऑक्सीजन और दवाइयों की कालाबाज़ारी करने वाले मुनाफ़ाख़ोरों के हाथों में सौंप दिया है। हमें इस बारे में कोई चूक नहीं करनी चाहिए कि: कॉ. मीनाक्षी, इस महामारी में अन्य बहुत से लोगों की तरह, बुर्जुआ वर्ग की उन काली ताक़तों के हाथों मृत्यु को प्राप्त हुईं जो दवाइयों को मुनाफ़े से जोड़ देते हैं।

कॉमरेडो! कॉ. मीनाक्षी के गुज़र जाने के इस तेज़ झटके को अपनी क़तारों को ऐक्यबद्ध करने में और अपनी इच्छाशक्ति को मज़बूत करने में लगा देना चाहिए। हम पूँजी के ख़िलाफ़ एक साझा संघर्ष के लिए निकले हुए हैं और दुनिया की कोई भी ताक़त हमारी अवश्यम्भावी विजय को बाधित नहीं कर सकेगी।

मौत और बेबसी के इस भीषण ताण्डव के लिए फ़ासिस्ट मोदी सरकार की आपराधिक लापरवाही ज़िम्मेदार है!

(पेज 1 से आगे)

से बहुत सारे आज भी जीवित होते। इन्हें मौतें न कहकर इस मुनाफ़ाख़ोर-आदमख़ोर पूँजीवादी व्यवस्था और उतनी ही निर्मम, लापरवाह, अमानवीय और बेशर्म फ़ासिस्ट सरकार द्वारा की जा रही हत्याएँ कहा जाना चाहिए। यह फ़ासिस्ट मोदी सरकार की आपराधिक लापरवाही और कुप्रबन्धन ही है जिसने देश की जनता को मौत के मुँह में धकेल दिया है। तमाम प्राइवेट दवा व वैक्सीन बनाने वाली कम्पनियाँ इस संकट में भी मुनाफ़ा पीटने का अवसर तलाश रही हैं। ऑक्सीजन से लेकर तमाम दवाओं की खुली कालाबाज़ारी दिन-दहाड़े चल रही है। आज़ादी के बाद से भारत ने ऐसी आपदा शायद ही पहले कभी देखी होगी। यही नहीं मोदी सरकार जैसी जनद्रोही और फ़ासिस्ट सरकार भी हम इस देश में पहली बार ही देख रहे हैं। कहते हैं कि जब रोम जल रहा था तब वहाँ का राजा नीरो बाँसुरी बजा रहा था। आज यह बात इस फ़ासिस्ट सरकार और इसके प्रधानमंत्री पर शब्दशः सटीक बैठती है। जब भारत कोरोना माहामारी की आग में जल रहा है तो मोदी सरकार बेशर्मी और निर्ममता के साथ उस आग पर अपने हाथ सेंक रही है।

कोरोना महामारी की इस दूसरी अधिक संक्रामक और घातक लहर की ज़द में अब देश के गाँव और छोटे शहर और क़स्बे भी आ चुके हैं, जहाँ पहले ही ख़स्ताहाल स्वास्थ्य सेवाएँ यह बोझ उठा ही नहीं पा रही हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश आदि राज्यों के गाँवों और शहरों में स्थिति नियंत्रण से पूरी तरह बाहर चली गयी है। यही कारण है कि उत्तर प्रदेश के बर्बर फ़ासिस्ट मुख्यमंत्री आदित्यनाथ द्वारा कोरोना को लेकर "अफ़वाहें फैलाने" वालों के ख़िलाफ़ रासुका और यूएपीए जैसे काले क़ानूनों का सहारा लिया जा रहा है। मेडिकल रिपोर्टों व मृत्यु प्रमाण पत्रों में कोविड पॉज़िटिव दिखाने वाले अस्पतालों और डॉक्टरों पर कार्रवाई की जा रही है, उनके अस्पताल सील किये जा रहे हैं और फ़र्ज़ी मुक़दमे डाले जा रहे हैं। लेकिन इतनी भयावह स्थिति पैदा क्यों हुई? इसके लिए कौन ज़िम्मेदार है? जब कोरोना की दूसरी लहर के ख़िलाफ़ तैयारी का समय था तब मोदी सरकार का समूचा मंत्रिमण्डल बंगाल से लेकर केरल तक में चुनावी रैलियाँ कर रहा था और नेताओं-विधायकों को ख़रीदने में मगन था। जब संक्रमण से लड़ने की नयी कारगर रणनीति बनाने का वक़्त था तब मोदी सरकार सभी सार्वजनिक उपक्रमों को कौड़ियों के दाम बेच रही थी और मज़दूर-विरोधी श्रम संहिताएँ पारित कर रही थी। जब व्यापक आबादी में निःशुल्क वैक्सीनेशन का कार्यभार पूरा किया जाना चाहिए था तब प्रधानमंत्री मोदी कोरोना पर विजय प्राप्त करने के अहमक दावे कर रहे थे और अपनी पीठ थपथपा रहे थे! जब संक्रमण की रोकथाम के साथ ही स्वास्थ्य सेवाओं को दुरुस्त करने की बारी थी तो कुम्भ मेले का आयोजन, वह भी निर्धारित समय से पहले और सभी स्वास्थ्य सुरक्षाओं को धता बताकर करवाया जा रहा था। देश की जनता के स्वास्थ्य और जीवन से खिलवाड़ इन्हीं फ़ासिस्टों की करामात है जिन्होंने इस आपदा को हज़ार गुना बढ़ाने का भीषण अपराध किया है। आज जो लोग मर रहे हैं वे सिर्फ़ कोरोना महामारी के चलते नहीं बल्कि वे फ़ासिस्ट मोदी सरकार की अक्षम्य आपराधिक लापरवाही के चलते भी मर रहे हैं।

मौजूदा स्वास्थ्य संकट की विकरालता इतनी गम्भीर है कि आम तौर पर फ़ासिस्ट मोदी सरकार की सभी कारगुज़ारियों पर मुँह में दही जमाकर बैठने वाले उच्चतम न्यायलय को भी हस्तक्षेप करना पड़ा है और सरकार को थोड़ी हलकी-फुल्की डाँट-फटकार लगाने पर विवश होना पड़ा है। आख़िर व्यवस्था के दूरदर्शी पहरेदार होने के नाते वे भी समझ रहे हैं कि स्थितियाँ किस करवट मुड़ सकती हैं! एक तरफ़ मौतों की यह भयावह त्रासदी जारी है वहीं दूसरी ओर इस दौरान मोदी सरकार सेण्ट्रल विस्टा विकास परियोजना पर 20000 करोड़ रुपये पानी की तरह बहा रही है। यही नहीं, इसके निर्माण कार्य को आवश्यक सेवा तक घोषित कर दिया है ताकि दिल्ली में जारी लॉकडाउन के दौरान भी इसका काम जारी रह सके!

ऐसा नहीं है कि मोदी सरकार के पास आपदा से निपटने का मौक़ा, वक़्त और संसाधन नहीं थे। कई विशेषज्ञों द्वारा बार-बार महामारी की दूसरी लहर आने के बारे में चेताये जाने के बावजूद सरकार इसे अगम्भीरता से लेती रही और महामारी पर शिकस्त पाने की बड़ी-बड़ी अवैज्ञानिक डीगें हाँकती रही। पिछले एक साल के अन्दर ही स्वास्थ्य ढाँचे में व्यापक सुधार किया जा सकता था। लेकिन न तो व्यापक तौर पर कोविड केयर सेण्टरों और आइसोलेशन वार्डों को खड़ा किया गया, न घोषित किये गये ऑक्सीजन प्लाण्ट लगाये गये, न अस्पतालों की संख्या बढ़ायी गयी, न मौजूदा स्वास्थ्य ढाँचे को दुरुस्त करके अस्पतालों में आईसीयू और वेण्टिलेटर्स बढ़ाये गये, न एम्बुलैंस सुविधा बढ़ायी गयी, न जीवनरक्षक दवाओं की पर्याप्त आपूर्ति सुनिश्चित की गयी। क्यों नहीं इस दौरान बड़े पैमाने पर अस्पतालों में डॉक्टरों और स्वास्थ्यकर्मियों की भर्ती की गयी? क्या स्पेन की तरह भारत भी स्वास्थ्य के ढाँचे का राष्ट्रीकरण करके युद्ध स्तर पर कोरोना का मुक़ाबला नहीं कर सकता था? क्या दूसरी लहर से ऐन पहले चुनावी रैलियाँ और कुम्भ जैसा आयोजन किया जाना देश की जनता के ख़िलाफ़ किये जाने वाले किसी भी अपराध से कम है? नतीजा एक विकराल ऐतिहासिक आपदा है जो आज इस देश की मेहनतकश जनता को ही सबसे अधिक प्रभावित कर रही है। असल में मोदी सरकार के एजेण्डे में जनता के जान-माल का सरोकार हो तभी तो वह महामारी से गम्भीरतापूर्वक निबटने की कोई योजना बनाती। सत्ता में बैठे इन फ़ासिस्टों को आपदा प्रबन्धन की बजाय जनता को जाति-धर्म और मन्दिर-मस्जिद के नाम पर लड़ाकर पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरने का प्रबन्धन ही आता है और वही ये कर भी रहे हैं! इसका हालिया उदहारण महामारी के दौरान तमाम प्राइवेट कम्पनियों को वैक्सीन बेचकर मुनाफ़ा पीटने की छूट देना भी है। अदार पूनावाला की सीरम इंस्टीट्यूट ऑफ़ इण्डिया कम्पनी को सरकार द्वारा वैक्सीन बनाने के लिए सारे सरकारी नियमों में ढील देकर 3000 करोड़ रुपये का अनुदान दिया गया और भारत बायोटेक को 1500 करोड़ का सरकारी अनुदान दिया गया और कहा गया था कि यह वैक्सीन जनता को मुफ़्त दी जायेगी। अब यही प्राइवेट कम्पनियाँ इसे सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रतिष्ठानों को 400 रुपये और निजी अस्पतालों को 600 रुपये में बेच रही हैं। दरअसल यह वैक्सीन घोटाला भी रफ़ाएल जैसा ही एक भयंकर घोटाला है और जनता की सम्पदा की खुलेआम लूट है।

कोरोना महामारी की पहली लहर के दौरान भी मोदी सरकार ने ऐसी ही अक्षम्य आपराधिक लापरवाही का परिचय दिया था जब प्रधानमंत्री मोदी ने इतिहास पुरुष बनने के चक्कर में कोरोना केसों की जाँच और इलाज कराने की बजाय देश की जनता पर बिना किसी तैयारी के आनन-फ़ानन में तानाशाहाना ढंग से लॉकडाउन थोप दिया था और करोड़ों मज़दूरों-मेहनतकशों को सड़कों पर मारे-मारे फिरने और भुखमरी-बेरोज़गारी से मरने के लिए छोड़ दिया था। पहली लहर के बाद मोदी सरकार ने पिछली ग़लतियों को सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया बल्कि दूसरी लहर के इस क़दर विकराल होने का प्रमुख कारण ही सरकार की लापरवाही, बदइन्तज़ामी, उदासीनता और जनद्रोही रवैया है। सरकार कोरोना महामारी को अपने हाल पर छोड़कर तमाम दमनकारी-जनविरोधी क़ानून जनता पर थोपने में जुट गयी थी। इतनी बड़ी आपदा के समय भी सरकार की तैयारी शून्य देखी गयी। अरबों-खरबों रुपये के पीएम केयर फ़ण्ड और कोरोना के नाम पर लिये गये अरबों रुपये के क़र्ज़ का किसी को कुछ अता-पता नहीं है जो अपने आप में एक बहुत बड़ा घोटाला है। इस दौर में करोड़ों रुपये ख़र्च करके भाजपा के आलीशान कार्यालय बनाये जाते रहे। राम मन्दिर निर्माण के नाम पर चन्दे के रूप में बेहिसाब पैसे बटोरे जाते रहे। पूँजीपतियों के अरबों-खरबों रुपये के बैंक क़र्ज़े माफ़ किये जाते रहे। वहीं दूसरी तरफ़ महामारी और लॉकडाउन की इस अवधि में बेरोज़गारी और सामाजिक असुरक्षा ज़बर्दस्त रफ़्तार से बढ़ी है। सेण्टर फ़ॉर मॉनिट्रिंग इण्डियन इकॉनमी (CMIE) और अन्य प्रतिष्ठित संस्थाओं के अनुसार औपचारिक/संगठित क्षेत्र में क़रीब 60 लाख मज़दूरों व कर्मचारियों ने नौकरी खोयी। जबकि अनौपचारिक/असंगठित क्षेत्र में क़रीब 12.2 करोड़ लोगों ने रोज़गार खो दिया। इसी दौरान 15 से 24 वर्ष के बीच के क़रीब 41 लाख युवा मज़दूरों-मेहनतकशों को रोज़ी-रोटी से हाथ धोना पड़ा। इसका असर देश में ग़रीबी और कुपोषण के स्तरों पर भी पड़ा और कई रपटों में बढ़ी ग़रीबी और दरिद्रता और साथ ही बढ़ते कुपोषण के तथ्य सामने आ चुके हैं। जिनकी नौकरियाँ नहीं भी गयीं, उन मज़दूरों की आमदनी में भारी गिरावट आयी। अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के एक नमूना सर्वेक्षण के अनुसार लोगों की औसत आमदनी में 40 से 50 फ़ीसदी की गिरावट आयी है। यानी पिछले डेढ़ वर्षों में मोदी सरकार की जनद्रोही नीतियाँ और अक्षम्य लापरवाही मेहनतकश जनता की जान और आजीविका को लीलने में लगी रही।

अब अपनी इन्हीं नाकामियों को छिपाने के मक़सद से केन्द्र व राज्य सरकारें जनता पर बिना किसी योजना के एक बार फिर से आंशिक या पूर्ण लॉकडाउन थोप रही हैं। लेकिन स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार-विस्तार, कोविड केन्द्रों की हालत सुधारने, व्यापक तौर पर जाँचों का इन्तज़ाम करने के मसले पर कुछ नहीं कर रही है। ज़ाहिर है दूसरी लहर से भी सरकार पहली लहर की तरह पुलिस-बल और दमन के ज़रिए निपटना चाह रही है न कि डॉक्टरों, इलाज, स्वास्थ्य सेवाओं के ज़रिए। हालांकि मोदी सरकार इस बार स्वयं लॉकडाउन लगाने से बच रही है और यह काम राज्य सरकारों के द्वारा करवा रही है। लॉकडाउन लगाने वाले राज्यों में कोरोना महामारी के साथ-साथ लोगों के घरों में भुखमरी ने भी दस्तक दे दी है। कोरोना एक वास्तविक महामारी है और इसकी संक्रमण दर बहुत ज़्यादा है, इसके बावजूद भी बिना किसी तैयारी के किये जा रहे लॉकडाउन की वजह से संक्रमण के फैलने पर कोई नकारात्मक असर तो पड़ेगा नहीं बल्कि इससे मृत्यु का शिकार होने वाले कुल लोगों की संख्या में भी भारी इज़ाफ़ा होगा। सरकार द्वारा, बिना इस बात को सुनिश्चित किये कि प्रत्येक नागरिक तक सार्वभौमिक राशनिंग प्रणाली के ज़रिए खाद्य सामग्री को पहुँचाया जायेगा और प्रत्येक नागरिक को न्यूनतम आमदनी मुहैया करायी जायेगी, अनियोजित लॉकडाउन थोपे जाने से एक बार मेहनतकश आबादी को इसकी मार झेलनी पड़ेगी और इसकी मार पड़नी शुरू हो भी चुकी है। आज निश्चित ही इसके लिए जन दबाव बनाया जाना चाहिए कि केन्द्र और राज्य सरकारें खाद्य सामग्री के वितरण और न्यूनतम आमदनी की गारण्टी करें। वैसे भी लॉकडाउन जैसे उपाय अपने आप में महामारी का समाधान नहीं होते, बल्कि ये कुछ वक़्त आपको ख़रीदकर देते हैं, यानी कुछ मोहलत देते हैं। वायरस चूँकि अब 'कम्युनिटी ट्रांसमिशन' की मंज़िल तक पहुँच चुका है और 'एयरबोर्न' हो चुका है यानी हवा में प्रवेश कर चुका है, तो लॉकडाउन जैसे क़दम इस मंज़िल में कारगर साबित हो भी नहीं सकते हैं। जिन देशों में भी दक्षिणपन्थी या फ़ासीवादी सरकारें थीं, जिन देशों में विशिष्ट रूप से जनविरोधी और दमनकारी पुलिस व सशस्त्र-बल थे, उन देशों में लॉकडाउन को बेहद जनविरोधी और दमनकारी तरीक़े से लागू किया गया। भारत भी ऐसे देशों में शामिल है। यहाँ पर लॉकडाउन को बिना किसी योजनाबद्धता, बिना किसी तैयारी के मोदी सरकार ने लागू किया। न तो जनता तक तमाम वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति की समुचित व्यवस्था की गयी, जैसा कि वियतनाम व न्यूज़ीलैण्ड समेत कुछ देशों में सरकार ने की थी; न ही जो लोग घर पहुँचना चाहते थे उन्हें घर जाने की व्यवस्था और मौक़ा दिया गया। नतीजतन, फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा थोपा गया योजनाविहीन लॉकडाउन जनता के लिए नर्क बन गया। और इस बार भी सरकारें अपनी काहिली और कुप्रबन्धन पर पर्दा डालने के लिए लॉकडाउन पर निर्भर कर रही हैं। हम जानते हैं कि हर संकट का बोझ पूँजीपति वर्ग और उसकी सरकार जनता पर डालते हैं। अब कोविड महामारी और लॉकडाउन से गहराये आर्थिक संकट का बोझ भी जनता के ऊपर ही डालने का काम किया जा है।

एक तरफ़ इस कोरोना महामारी और लॉकडाउन के दौरान देश की मेहनतकश जनता बीमारी, मौत, भुखमरी, आजीविका खो देने की असुरक्षा और सरकारी उदासीनता और भयंकर लापरवाही से त्राहि-त्राहि कर रही है, तो दूसरी तरफ़ तमाम पूँजीपति और धनपशु या तो अपनी विलासिता की मीनारों में बैठे हुए मौज उड़ा रहे हैं या बड़े पैमाने पर सपरिवार विदेश रवाना हो गये हैं। कोविशील्ड वैक्सीन बनाने वाली फ़ार्मा कम्पनी का मालिक अदार पूनावाला भी अपनी जान को

(पेज 10 पर जारी)

मौत और बेबसी के इस भीषण ताण्डव के लिए फ़ासिस्ट मोदी सरकार की आपराधिक लापरवाही ज़िम्मेदार है!

(पेज 9 से आगे)

ख़तरा बताकर लन्दन भाग गया! इन शोषकों-लुटेरों की जमातों को अपने ऐशगाहों और अय्याशी के अड्डों में बैठकर न सिर्फ़ कोरोना से डर लग रहा है बल्कि वे जनाक्रोश के किसी भी वक़्त फट पड़ने से भी भयाक्रान्त है। और यह भय अकारण नहीं है। आज जिस तरह देशभर में लोग महामारी और स्वास्थ्य सुविधाओं के भीषण अभाव और सरकारी आपराधिक लापरवाही के चलते सड़कों पर मर रहे हैं, उस स्थिति में जनाक्रोश का ज्वालामुखी कभी अचानक भी भड़क सकता है; और यहाँ-वहाँ लोगों का ग़ुस्सा स्वतःस्फूर्त सड़कों पर फूट भी रहा है। आख़िरकार महामारियों का भी वर्ग चरित्र होता ही है और ये सबसे अधिक असर मज़दूर वर्ग और मेहनतकश जमातों पर ही डालती हैं।

वास्तव में, कोरोना संक्रमण का महामारी में तब्दील होना मुनाफ़े पर खड़ी पूँजीवादी व्यवस्था की ही देन है जिसमें जनता के जीवन का कोई मूल्य नहीं है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि महामारियों का पैदा होना भी एक पूर्णत: स्वतःस्फूर्त प्राकृतिक प्रक्रिया नहीं है। तमाम जीवविज्ञानी अब दिखला चुके हैं कि मुनाफ़ की हवस में पर्यावरण और समूची प्रकृति की पूँजीवाद द्वारा तबाही बढ़ते वायरल संक्रमणों और महामारियों और साथ ही उन पर क़ाबू पाने की अक्षमता के लिए ज़िम्मेदार है। उस पर हमारे देश में शासन कर रही मानवद्रोही फ़ासिस्ट मोदी सरकार ने इस महामारी को कई गुना और बढ़ा दिया है। दुनिया के बहुत सारे देशों में इस समय मास्क फ्री तक हो रहे हैं। कई देश अपने ज़्यादातर नागरिकों को कोरोना वैक्सीन का टीका निःशुल्क दे चुके हैं। स्पेन जैसे पूँजीवादी देश तक ने तमाम प्राइवेट अस्पतालों का राष्ट्रीकरण कर उन्हें सरकारी नियंत्रण के मातहत ला दिया था। लेकिन हमारे यहाँ मोदी सरकार वैज्ञानिकों, स्वास्थ्यकर्मियों और विशेषज्ञों की बातों को हवा में उड़ाकर भयंकर आपदा को न्योता दे रही थी। पिछले एक साल के दौरान भारत ने दुनिया को ऑक्सीजन और दवाओं से लेकर वैक्सीन तक का रिकॉर्ड निर्यात किया है जबकि अब हाल यह है कि देश के लोग इनकी कमी में अपनों को मरता हुआ देखने को मजबूर हैं! सरकारी नाकारापन-निकम्मापन इस हद तक बढ़ गया है कि आज देश के करोड़ों लोग इसका ख़ामियाज़ा भुगत रहे हैं।

वहीं सरकार की नाकामी पर पर्दा डालकर कोविड को षड्यंत्र बताने वाले ऐसे "क्रान्तिकारी" मूर्ख भी हैं जो इस वक़्त भी अपनी जनद्रोही और विज्ञान विरोधी हरक़तों से बाज़ आते नज़र नहीं आ रहे हैं। ऐसे लोगों के लिए एक सही ही शब्द ईजाद हुआ है: कोविडियट्स, यानी कोविड को नकारने वाले मूर्ख। इन कोविडियट्स के अनुसार कोरोना खाँसी-ज़ुकाम जैसा मामूली फ़्लू है और यह महामारी नहीं बल्कि एक सरकारी ड्रामा है! जहाँ एक तरफ़ तो देश की जनता कोरोना महामारी और सरकारी नाकामी के चलते अपनी जान गँवा रही है वहीं दूसरी तरफ़ ख़ुद को क्रान्तिकारी कहने वाले ये कोविडियट सरकार के सामने कोई माँगपत्र पेश करने की बजाय उल्टा कोरोना को षड्यंत्र क़रार देकर मोदी सरकार के बच के निकलने का रास्ता ही साफ़ कर रहे हैं। कोरोना महामारी के दौरान हो रही मौतों और अफ़रा-तफ़री का कारण ये कोविडियट्स जानबूझकर पूरी तरह से लॉकडाउन पर ही शिफ़्ट किये जा रहे हैं ताकि कोरोना महामारी पर इनकी मूर्खतापूर्ण, दिवालिया और दक्षिणपन्थी कार्यदिशा पर ये पर्दा डाल सकें। इस वक़्त तमाम प्रगतिशील व क्रान्तिकारी ताक़तों के एजेण्डे में इस महामारी की असली जड़, यानी कि पूँजीवाद और महामारी को एक भयंकर आपदा में बदलने में फ़ासिस्ट मोदी सरकार की आपराधिक लापरवाही को बेपर्द करने के अलावा क्या ही काम हो सकता है! लेकिन इन कोविडियट्स के एजेण्डे में ऐसा कुछ नहीं है। ऐसी बचकानी लेकिन ख़तरनाक समझदारी वास्तव में फ़ासिस्ट मोदी सरकार व तमाम अन्य बुर्जुआ सरकारों और पूँजीवादी व्यवस्था को ही कटघरे से बाहर कर देती है। आज ऐसे जनद्रोही विचारों का पर्दा फ़ाश किये जाने की बेहद ज़रूरत है क्योंकि जनता के कुछ हिस्सों में भी, वैज्ञानिक समझ तक सहज पहुँच के अभाव के चलते, ऐसे षड्यंत्र सिधान्तों की स्वीकार्यता बन जाती है और इसलिए ऐसी अवैज्ञानिक और अतार्किक सोच किसी भी दिये गये क्षण में प्रधान अन्तरविरोध की शिनाख़्त कर सही क्रान्तिकारी माँगपत्रक पेश किये जाने के रास्ते में अवरोध पैदा करती है, जनता की पहलक़दमी को बाधित करती है और हर प्रकार के कारगर संघर्ष की धार को कुन्द करती है। अब यह बात किसी से छिप नहीं सकती कि कम्युनिस्ट होने का दावा करने वाले ये कोविडियट्स ऐसी जनद्रोही कार्यदिशा अपनाकर जनता से ग़द्दारी तक के सीमान्तों को छू रहे हैं। कोरोना महामारी के मसले पर इन लोगों के विचारों का दुनियाभर के धुर दक्षिणपन्थियों, जिनमें कि ट्रम्प और बोल्सोनारो जैसों की जमात शामिल है, के साथ पूरा-पूरा साम्य दिखायी दे रहा है। दक्षिणपन्थियों के समान कोरोना को मौसमी फ़्लू बताने की इनकी आपराधिक हरक़त जनता के साथ किये गये किसी विश्वासघात से कम नहीं है। यह पूँजीवाद और फ़ासिस्ट सरकार को उसके कुकर्मों से बरी करना है।

भारत में मौजूदा स्वास्थ्य संकट ने फ़ासिस्ट मोदी सरकार के जनद्रोही चरित्र को न केवल बेनक़ाब किया है बल्कि यह भी साबित कर दिया है कि देश में हो रही लाखों मौतें इसके आपराधिक कुकर्मों का ही परिणाम है। इसकी ज़िम्मेदारी से यह सरकार बच नहीं सकती है और इस कारण मोदी सरकार और स्वयं मोदी की अलोकप्रियता लगातार बढ़ रही है। जनता के बीच भी आक्रोश और असन्तोष लगातार पनप रहा है। कोई ताज्जुब की बात नहीं होगी कि बदहवासी में ये फ़ासिस्ट शासक नागरिकता संशोधन क़ानून और एनआरसी के मसले को, काशी-मथुरा और राम मन्दिर निर्माण को हवा देकर एक बार फिर साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण करके जनता को बाँटने का काम करें और साम्प्रदायिक उन्माद की लहर में जनाक्रोश और बढ़ रहे असन्तोष को डुबो दें। ऐसे में इस देश के मज़दूर वर्ग और मेहनतकश आबादी को इनके फ़ासिस्ट मंसूबों और हथकण्डों को नाकामयाब बनाने के लिए अपनी वर्ग एकजुटता क़ायम करनी होगी और माकूल जवाब देने की तैयारी अभी से ही शुरू कर देनी होगी। वरना कल बहुत देर हो जायेगी।

इसके साथ ही कोरोना महामारी और मौजूदा आपदा एक बार फिर यह दिखाती है कि मुनाफ़े पर आधारित पूँजीवादी व्यवस्था सिवाय महामारियों, बेरोज़गारी, मौत, भुखमरी, पर्यावरणीय विनाश, युद्धों और असुरक्षा के हमें कुछ और नहीं दे सकती है। पूँजीवादी व्यवस्था में स्वास्थ्य व्यवस्था लोगों की जान बचाने के लिए, जन कल्याण के लिए नहीं बल्कि अधिक से अधिक मुनाफ़ा पीटने का साधन मात्र है। हमें यह समझना होगा कि मौजूदा स्वास्थ्य संकट कोई प्राकृतिक आपदा नहीं है बल्कि इस मुनाफ़ाख़ोर व्यवस्था और फ़ासिस्ट मोदी सरकार की आपराधिक लापरवाही का नतीजा है। आज हमें पुरज़ोर तरीक़े से यह माँग उठानी होगी कि देश की समूची स्वास्थ्य व्यवस्था का राष्ट्रीकरण करके उसे सरकारी नियंत्रण में लाया जाये। इस संकट ने एक बार फिर से यह रेखांकित कर दिया है कि सर्वहारा क्रान्ति और समाजवाद ही मानवता को इन विभीषिकाओं से निजात दिला सकता है। **मानवता के सामने आज दो ही विकल्प हैं: समाजवाद या विनाश। इस विनाश की कुछ भयावह तस्वीरें हमें अपने आसपास घटित होते हुए दिखायी भी दे रही हैं। एक ऐसी व्यवस्था जिसके केन्द्र में मुट्ठीभर थैलीशाहों का मुनाफ़ा नहीं बल्कि समाज की आवश्यकताएँ होंगी, वही हर प्रकार के संकट, बेरोज़गारी, असुरक्षा और अनिश्चितता से मुक्ति दिला सकती है जिसमें उत्पादन के साधन चन्द पूँजीपतियों की इज़ारेदारी न हों बल्कि मेहनतकश आबादी की साझी सम्पत्ति हों, जिसमें उत्पादन और वितरण बाज़ार की अराजकता से नहीं बल्कि योजनाबद्ध तरीक़े से समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए होता हो, जिसमें विज्ञान के पैरों में मुनाफ़े की बेडियाँ न पड़ी हों, जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण असम्भव हो।**

मोदी सरकार के आपराधिक निकम्मेपन की सिर्फ़ दो मिसालें देखिए!

जब देशभर में लाखों मरीज़ ऑक्सीजन के अभाव में तड़प रहे थे, हज़ारों रोज़ मर रहे थे, अस्पतालों तक में ऑक्सीजन ख़त्म होने से मौतें हो रही थीं, तब मोदी सरकार के नाकारापन की यह बानगी देखिए!

1. गुजरात के गाँधीधाम के एसईज़ेड में देश के कुल दो तिहाई ऑक्सीजन सिलेण्डर बनते हैं।

2. पिछले 10 दिनों से यहाँ के सभी प्लाण्ट्स में ताला बन्द है।

3. वजह? वजह यह कि सरकार ने औद्योगिक ऑक्सीजन के इस्तेमाल पर पाबन्दी लगायी थी। लेकिन, आदेश में इन सिलेण्डर निर्माता इकाइयों को भी शामिल कर लिया गया।

4. फिर 27 तारीख़ को गृह मंत्रालय को इलहाम हुआ तो एक 'स्पष्टीकरण' जारी किया गया। इसमें कहा गया कि ऑक्सीजन सिलेण्डर बनाने वाले कारख़ानों को लिक्विड ऑक्सीजन की आपूर्ति की जाये।

5. लेकिन, यह आदेश काग़ज़ों में ही सिमटकर रह गया। गुजरात सरकार के पास या तो आदेश की कॉपी नहीं पहुँची या फिर वहाँ की भाजपा सरकार को ऑक्सीजन की कमी से मर रहे लोगों की फ़िक्र नहीं है। हफ़्ते भर बाद भी सारे कारख़ाने बन्द पड़े हुए हैं।

6. उद्योग से जुड़े लोगों का दावा है कि उन्होंने ऑक्सीजन की आपूर्ति की कमी को लेकर सरकार के 'सर्वोच्च स्तर' पर अपनी चिंता ज़ाहिर की, लेकिन हुआ कुछ नहीं।

7. गाँधीधाम से ऑक्सीजन सिलेण्डर की आपूर्ति देश के लगभग सभी राज्यों में होती है क्योंकि 100 में से 66 सिलेण्डर यहीं बनते हैं। अभी हालत ये है कि सरकार विदेशों से भीख माँग रही है या फिर दोगुने-चौगुने दाम पर ऑक्सीजन सिलेण्डर ख़रीद रही है। जो अपने कारख़ाने हैं, वहाँ ताला जड़कर बैठी हुई है।

8. न मुख्यमंत्री विजय रुपाणी ने इसका पालन किया और न ही राज्य के खाद्य और औषधि प्राधिकरण के कानों पर जूँ रेंगी।

9. पूरा देश कुप्रबन्धन का शिकार बना बैठा है। देश को जितनी ऑक्सीजन की ज़रूरत है, उतनी भारत में रोज़ बन सकती है। हालात आपाकाल जैसे हैं, लेकिन जनसंहार के बीच भीषण अयोग्य प्रधानमंत्री टिनोपाल डालकर कुर्ता रंगने में जुटा है।

इससे निकम्मी सरकार भारत ने कभी नहीं देखी। यह जनरल डायर जैसी क्रूर और हत्यारी सरकार है। 25 अप्रैल से लेकर अब तक कई हवाई जहाज़ों में लादकर दुनिया के कई देशों ने भारत को ऑक्सीजन सिलेण्डर, ऑक्सीजन कन्सण्ट्रेटर्स, वेण्टिलेटर समेत कई ज़रूरी सामान भेजे। 18 घण्टे काम का ढोंग करने वाली नरेन्द्र मोदी की हत्यारी सरकार एक हफ़्ते तक एस.ओ.पी. नहीं बना पायी जिससे सारा सामान हवाई अड्डों पर ही पड़ा रहा और लोग मरते रहे।

एस.ओ.पी. का मतलब होता है स्टैण्डर्ड ऑपरेटिंग प्रोसीजर, यानी किसी स्थिति के संचालन के सरकारी तौर-तरीक़े, नियम-क़ायदे।

एस.ओ.पी. अब तक नहीं बनता अगर अमेरिका के एक पत्रकार ने वहाँ अपनी सरकार से सवाल नहीं पूछे होते। अमेरिकी पत्रकार ने पूछा कि उनके करदाताओं के पैसे से अमेरिकी सरकार ने सहायता के तौर पर जो सामान दिल्ली भेजा, उसका कुछ अता-पता नहीं चल पा रहा है।

अमेरिका ने जब मोदी सरकार को कोंचा, तब पता चला कि विदेश मंत्रालय स्वास्थ्य मंत्रालय के भरोसे था और स्वास्थ्य मंत्रालय गृह मंत्रालय के। किसी मंत्रालय को पता नहीं था कि सामान का बँटवारा किस मंत्रालय की ज़िम्मेदारी है। इस बीच देश में लोग तड़प-तड़पकर मर रहे थे।

– पत्रकार **दिलीप ख़ान** की फ़ेसबुक वॉल से साभार
5 मई 2021 की दो पोस्टों पर आधारित

पाँच राज्यों में सम्पन्न चुनावों के नतीजे और सर्वहारा वर्गीय नज़रिया

(पेज 3 से आगे)

सबसे उल्लेखनीय सुवेन्दु अधिकारी का भाजपा में जाना था जिसे कि तृणमूल में ममता बनर्जी के बाद दूसरा सबसे ताक़तवर नेता माना जाता था। इससे पहले 2017 में पूर्व तृणमूल कांग्रेस नेता मुकुल रॉय भाजपा में शामिल हो ही चुके थे। लेकिन चुनाव के वक़्त तो मानो दलबदलुओं का टिड्डी दल ही बंगाल के राजनीतिक पटल पर छोड़ दिया गया था! इन सबके चलते तृणमूल कांग्रेस की हालत ठीक तो नहीं लग रही थी और इसलिए ममता बनर्जी द्वारा "कार्यकर्ताओं का मनोबल बढ़ाने के लिए" सुवेन्दु अधिकारी के विरुद्ध नन्दीग्राम से चुनाव लड़ा गया और हारा गया। अब नन्दीग्राम के आन्दोलन की अलग ही कहानी थी; वर्ष 2007 में लेफ़्ट फ़्रण्ट की सरकार के ख़िलाफ़ ममता बनर्जी उस आन्दोलन का चेहरा भले ही थी लेकिन वास्तविक संगठनकर्ता सुवेन्दु अधिकारी ही था। इसलिए भाजपा का इस सीट से जीतना अप्रत्याशित नहीं है। मज़ेदार बात यह है कि चुनाव के दौरान धनी किसान आन्दोलन का नेतृत्त्व करने वाले संयुक्त किसान मोर्चा ने, जिसमें कि संसदीय वामपन्थी बातबहादुरों की धनी किसान यूनियनें भी शामिल हैं, नन्दीग्राम में भाजपा के विरोध में और तृणमूल कांग्रेस के समर्थन में प्रचार किया! हालाँकि सीपीआई-सीपीएम ने ख़ुद को इस प्रचार से दूर ही रखा क्योंकि सिंगूर-नन्दीग्राम का काला अतीत उनका पीछा नहीं छोड़ सकता है। लेकिन इतना तो तय है कि साम्प्रदायिक फ़ासीवाद को हराने के नाम पर इस क़िस्म की 'शंकर जी की बारात' वाले यूनाइटेड फ़्रण्ट बनाने के असफल प्रयासों के ऐसे ही हास्यास्पद परिणाम सामने आते हैं। यह दीगर बात है कि धनी किसान आन्दोलन के नेताओं का भाजपा-विरोधी चुनावी प्रचार कोई ख़ास असरदार साबित हुआ भी नहीं।

बहुतेरे पर्यवेक्षक ममता बनर्जी के नेतृत्त्व में तृणमूल कांग्रेस की इस जीत को फ़ासीवाद की शिकस्त क़रार दे रहे हैं। ममता बनर्जी के नाम के क़सीदे पढ़ रहे हैं। ऐसा अति आशावादी विश्लेषण और कुछ नहीं बल्कि लिबरल वायरस से ग्रस्त और वर्ग दृष्टि से रिक्त दिमाग़ों की पैदावार होता है। पहली बात तो यह है कि महज़ चुनावों में हार-जीत से हिन्दुत्व फ़ासीवाद के प्राणान्तक ख़तरे के टल जाने का फ़ैसला नहीं हो सकता है और अतीत में ऐसा हुआ भी नहीं है। भाजपा भले ही चुनाव हार जाये, लेकिन आरएसएस और संघ परिवार की विचारधारात्मक-सांगठनिक संरचना की उपस्थिति हर मौक़े पर यह सुनिश्चित करती रहेगी कि हिन्दुत्व फ़ासीवाद के लिए समाज में ज़रख़ेज़ ज़मीन तैयार होती रहे। इसके अलावा पूँजीवादी आर्थिक संकट भी वस्तुगत तौर पर फ़ासीवाद जैसे धुर-दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन के पनपने की ज़मीन तैयार करता है। इसलिए इन चुनाव परिणामों से इस हद तक आशान्वित होना वास्तव में बुर्जुआ उदारतावादी विभ्रम को ही दिखलाता है। दूसरे, पश्चिम बंगाल में भाजपा भले ही हार गयी हो लेकिन वह ख़ाली हाथ भी नहीं लौटी है। सोशल मीडिया पर 'दीदी' द्वारा भाजपा की फ़ासिस्ट राजनीति को धूल में मिला देने जैसी बहुत बड़ी-बड़ी बातें हो रही हैं लेकिन इस ओर कम ही लोग ध्यान दे पा रहे हैं कि बंगाल में सत्ता फिर से भले ही तृणमूल कांग्रेस के पास आ गयी है लेकिन यहाँ भाजपा दूसरी सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरी है। साल 2016 के विधानसभा चुनाव में भाजपा को 10.16 फ़ीसदी वोट के साथ मात्र 3 सीटें मिली थीं लेकिन 2021 में इसकी सीटें 77 तक पहुँच गयीं और वोट प्रतिशत बढ़कर 38 फ़ीसदी हो गया है! भाजपा भले ही सरकार न बना पायी हो लेकिन इस बार विधानसभा में अकेले विपक्ष के तौर पर वह सामने आयी है और कांग्रेस और संसदीय वाम दलों को उसने इस भूमिका से बेदख़ल कर दिया है। ममता बनर्जी की जीत से बंगाल की मेहनतकश जनता को क्या नसीब होगा यह तो पहले ही स्पष्ट है। बंगाल की जनता ग़रीबी-बेरोज़गारी और भुखमरी के जिस स्तर को छू रही है उसमें कोई बदलाव के आसार तो क़तई नज़र नहीं आ रहे हैं।

इसके अलावा, ममता बनर्जी और तृणमूल कांग्रेस की जीत साम्प्रदायिक हिन्दुत्व फ़ासीवाद पर धर्मनिरपेक्षता की कोई जीत नहीं है, जैसा कि कुछ लोग शोरगुल मचाते हुए दावा कर रहे हैं; यह ध्रुवीकरण की राजनीति की जीत है। जहाँ तक हिन्दू धार्मिक प्रतीकों का सवाल है तो ममता बनर्जी ने भी चुनाव प्रचार अभियान में इस प्रतीकवाद का बख़ूबी इस्तेमाल किया है। इसके अलावा तृणमूल कांग्रेस द्वारा बांग्ला अस्मितावाद का कार्ड भी जमकर खेला गया जिसका मुख्य तत्व "बांग्ला' बनाम "बाहरी" की राजनीति थी। साथ ही, टीएमसी ने भाजपा द्वारा पैदा किये गये मज़हबी ध्रुवीकरण का अपने राजनीतिक फ़ायदे के लिए खुलकर इस्तेमाल भी किया। मुसलमान आबादी ने एक मत होकर तृणमूल कांग्रेस को वोट दिया है क्योंकि तृणमूल द्वारा यह डर भी ज़मीनी स्तर पर फैलाया जा रहा था कि अगर उसे वोट नहीं करोगे तो भाजपा जीत जायेगी और भाजपा को तृणमूल कांग्रेस ही रोक सकती है। यही काम आम आदमी पार्टी के अरविन्द केजरीवाल ने साल 2020 के दिल्ली विधानसभा चुनावों के दौरान किया था। इन तथाकथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियों को फ़ासिस्टों द्वारा अंजाम दिये जा रहे इस साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण का हमेशा चुनावी लाभ ही पहुँचा है और इसलिए भी यह इसकी कोई प्रबल मुख़ालफ़त न तो करती हैं और न करेंगी ही। यही कारण है कि मालदा और मुर्शीदाबाद जैसे मुस्लिम बहुल इलाक़ों में तृणमूल के 80 फ़ीसदी से ज़्यादा उम्मीदवार विजयी हुए हैं क्योंकि मुसलमान आबादी ने असुरक्षा और भय से प्रेरित हो एकजुट होकर तृणमूल कांग्रेस को वोट दिया है।

बंगाल में कांग्रेस और संसदीय वामपन्थियों का सूपड़ा साफ़ होने का एक कारण यह ध्रुवीकरण भी रहा। आज़ादी के बाद से पहली बार ऐसा हुआ है कि पश्चिम बंगाल विधान सभा में कांग्रेस और संसदीय वामपन्थी पार्टियों का एक भी विधायक नहीं चुना गया है। 2016 में कांग्रेस-वाम गठबन्धन को कुल 77 सीटें मिली थीं, ठीक उतनी ही जितनी भाजपा को इस बार प्राप्त हुई हैं। वहीं दूसरी तरफ़ अगर देखें तो हिन्दू आबादी के बीच अपनी पैठ को और पुख़्ता करने की मंशा से भाजपा 2014 से 2019 के बीच बंगाल में मुख्यतः दलितों, आदिवासियों और अन्य पिछड़ी जातियों (ओबीसी) में अपना आधार दोगुना करने में सफल रही है, जिन तबक़ों से ग़रीबों का बहुलांश आता है और जो पारम्परिक तौर पर वामपन्थी पार्टियों का आधार हुआ करता था। हालिया चुनावों के बाद हुए तमाम सर्वेक्षणों में यह बात भी सामने आयी है कि बंगाल में "सवर्ण" व "उच्च" जातियों की तुलना में भाजपा को दलितों और अन्य पिछड़ी जातियों और साथ ही आदिवासियों का समर्थन किसी भी अन्य पार्टी से अधिक प्राप्त हुआ है। यह दिखलाता है कि तथाकथित कम्युनिस्ट पार्टियों का आधार भी यहाँ से सिमट रहा है और भाजपा पाँव पसार रही है। यहाँ यह बता देना ज़रूरी है कि पश्चिम बंगाल के माटीगारा-नक्सलबाड़ी विधानसभा सीट से इस बार भाजपा विजयी हुई है जो कि एक आरक्षित सीट थी। नक्सलबाड़ी का एक ऐतिहासिक महत्त्व है और इसलिए यह तथ्य अपने आप में बहुत कुछ ज़ाहिर कर देता है। इस क्षेत्र में 30 प्रतिशत दलित आबादी रहती है और उनके समर्थन के बग़ैर भाजपा का जीत पाना ही नामुमकिन था। तृणमूल कांग्रेस की जीत पर तालियाँ पीटने वाले कम्युनिस्टों को जश्न के नशे में इतना चूर नहीं हो जाना चाहिए कि वर्ग अन्तर्दृष्टि और वर्गीय राजनीति का दामन ही छूटने लगे।

पश्चिम बंगाल चुनाव में एक बात जिसके बारे में ज़्यादा चर्चा नहीं हो रही है वह है कांग्रेस के साथ ही संसदीय वामपन्थियों का राजनीतिक दृश्यपटल से साफ़ हो जाना। मज़दूर वर्ग की राजनीति का दावा करने वालों और असल में उनके हितों का सौदा करने वालों यानी सामाजिक जनवादियों और संशोधनवादियों का संसदीय चुनावी दंगल से ग़ायब हो जाने के लिए भी यह चुनाव याद रखा जायेगा! तीन दशक तक बंगाल में राज करने वाले संशोधनवादियों को इस विधानसभा चुनाव में एक सीट भी नसीब नहीं हुई। ज्योति बासु और बुद्धदेव भट्टाचार्य के कुख्यात दौरों में इन्होंने मज़दूर वर्ग की राजनीति को जिस तरह से अर्थवाद और संसदवाद के गड्ढे में धकेला है उस लिहाज़ से इनके साथ यही होना था। छद्म विकल्प नये विकल्प को खड़ा करने के रास्ते में बाधा ही बनता है। निश्चय ही पश्चिम बंगाल की मेहनतकश आबादी के सामने अपनी एकजुटता क़ायम करने और स्वयं को सही राजनीतिक विकल्प के इर्दगिर्द एकजुट करने की बड़ी चुनौती है।

असम में भाजपा गठबन्धन की सरकार ही फिर से सत्तासीन हुई है। यहाँ 2016 में भाजपा ने पहली बार सत्ता हासिल की थी। यह पहला मौक़ा था जब पूर्वोत्तर के किसी इतने बड़े राज्य में भाजपा अपनी फ़ासीवादी राजनीति के दम पर लगभग अकेले ही बहुमत के नज़दीक पहुँची और इसने अपने बूते पर सरकार बनायी। इस बार भाजपा गठबन्धन को कुल 126 सीटों में से 75 सीटों पर जीत हासिल हुई है। यह पहली बार ही हुआ है कि एक ग़ैर-कांग्रेसी सरकार असम में लगातार दो बार चुनकर आयी हो। भाजपा ने इस बार 93 सीटों पर उम्मीदवार खड़े किये थे जिसमें से उसे 60 सीटों पर जीत हासिल हुई है जो कि पिछली बार के ही बराबर है, वहीं इसके राजनीतिक सहयोगियों, असम गणपरिषद् (एजीपी) और यूनाइटेड पीपल्स पार्टी लिबरल (यूपीपीएल) को 9 और 6 सीटें मिली हैं। कांग्रेस के नेतृत्त्व में बने "महाजोत" को, जिसमें कि 10 पार्टियाँ शामिल थीं, 51 सीटें प्राप्त हुई हैं। कांग्रेस को 29 सीटें मिली हैं। गठबन्धन के अन्य घटकों जैसे कि बदरुद्दीन अजमल की ऑल इण्डिया यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ़्रण्ट (एआईयूडीएफ़) को 16 सीटें और बोडोलैण्ड पीपल्स फ़्रण्ट (बीपीएफ़) को बोडोलैण्ड प्रादेशिक क्षेत्र (बीटीआर) में कुल 4 सीटें हासिल हुई हैं।

बीपीएफ़ को पिछली बार यानी कि 2016 विधानसभा चुनाव में 12 सीटें मिली थी, उस वक़्त वह भाजपा की सहयोगी थी। भाजपा को कुल पड़े वोटों का 33.2 प्रतिशत प्राप्त हुआ है जबकि कांग्रेस को 29.6 फ़ीसदी वोट मिले हैं।

सीएए-एनआरसी के मुद्दे पर असम में भाजपा का ज़बर्दस्त विरोध हुआ था। सीएए के ख़िलाफ़ खड़े हुए आन्दोलन से निकली दो नयी पार्टियों ने भी इस बार चुनाव में शिरकत की। इसमें से प्रमुख अखिल गोगोई द्वारा गठित रायजर दल था जिसकी तरफ़ से वह स्वयं इस बार शिबसागर सीट से चुनाव लड़े और भाजपा की उम्मीदवार को हराया। अखिल गोगोई ने कांग्रेस व वाम दलों द्वारा बदरुद्दीन अजमल की कट्टरपन्थी साम्प्रदायिक पार्टी एआईयूडीएफ़ से हाथ मिलाने पर विरोध भी दर्ज करवाया था और किसी भी सेक्युलर मोर्चे में ऐसे दल की मौजूदगी पर सवाल उठाये थे।

जहाँ तक भाजपा का प्रश्न है तो इस बार राज्य चुनाव में इसने सीएए-एनआरसी के मुद्दे पर बेशर्म चुप्पी साध रखी थी। भाजपा अपने चुनावी घोषणापत्र तक में सीएए-एनआरसी को लेकर कोई बात नहीं कर रही थी। हालाँकि असम में धार्मिक आधार पर ध्रुवीकरण करने में भाजपा काफ़ी हद तक सफल हुई है। "बांग्लादेशी मुसलमान घुसपैठिये" के बरक्स "हिन्दू शरणार्थी" की छवि को स्थापित करने का भी ख़ासा प्रयास किया गया है। इसके अलावा भाजपा की जीत के पीछे उसका चाय बाग़ान मज़दूरों में मज़बूत आधार है, इसका भी एक कारण है; इसकी वजह से भाजपा वर्ष 2016 में भी सत्ता हासिल कर पायी थी। यही कारण है कि कांग्रेस ने अपने चुनावी घोषणापत्र में चाय बाग़ान मज़दूरों का न्यूनतम वेतन 351 रुपये प्रतिदिन करने का वायदा किया था, लेकिन मुख्यमंत्री सोनोवाल ने चुनाव प्रचार शुरू होने से पहले ही मौजूदा 167 रुपये में 50 रुपये की बढ़ोतरी की घोषणा कर दी थी। इसके साथ ही असम के तीन पहाड़ी ज़िलों में भी भाजपा का आधार और सुदृढ़ीकृत हुआ है और उसने यहाँ पाँचों सीटें जीती हैं। बराक घाटी, जो बांग्ला बहुल क्षेत्र है, वहाँ भाजपा को 6 सीटें प्राप्त हुई हैं। समूचे चुनाव प्रचार के दौरान भाजपा ने कांग्रेस-एआईडीयूएफ़ के गठबन्धन को "असमिया" पहचान के लिए ख़तरनाक बताया था, चुनाव को "दो सभ्यताओं का टकराव" बताया और भाजपा को "असमिया संस्कृति और सभ्यता" का संरक्षक बताया था। यही कारण है कि भाजपा ने नागरिक क़ानून संशोधन को लेकर चुनाव प्रचार में कोई बात नहीं की और पूरा प्रचार इस बात पर ही केन्द्रित किया कि कांग्रेस नीत गठबन्धन को जिताने का मतलब "बांग्लादेशी घुसपैठियों" को सत्ता सौंपना है। भाजपा को सीएए पर बात करने की आवश्यकता इसलिए भी नहीं पड़ी क्योंकि "असमिया' राष्ट्रीय पहचान के इर्द-गिर्द एक प्रतिक्रियावादी लामबन्दी संघटित करने में उसे एक हद तक सफलता हासिल हुई है और ग़ैर-मुसलमानों को नागरिकता दिये जाने के विवादास्पद मसले को चुनाव के दौरान वह ठीक इसीलिए नहीं उठाना चाहती थी। वहीं दूसरी तरफ़ बदरुद्दीन अजमल की पार्टी भी भाजपा-संघ परिवार द्वारा लगायी गयी इस साम्प्रदायिक

(पेज 12 पर जारी)

पाँच राज्यों में सम्पन्न चुनावों के नतीजे और सर्वहारा वर्गीय नज़रिया

(पेज 11 से आगे)

ध्रुवीकरण की आग में घी डालने का काम ही कर रही थी। एक प्रकार का कट्टरतावाद दूसरे प्रकार के कट्टरतावाद को खाद पानी देने का काम ही करता है जो कि असम के चुनावों में देखा भी गया। एक और बात जो समय के साथ स्पष्ट हो रही है वह है असम गण परिषद् जैसे मुख्य धारा में शामिल असमिया राष्ट्रवादी दलों की अप्रासंगिकता। अतीत में एजीपी ने असम में दो बार सरकार बनायी थी लेकिन इस बार वह कुल 9 सीटें पर ही सिमट गयी जो कि 2016 के मुक़ाबले 5 सीटें कम हैं। इसके अलावा एक अन्य असमिया राष्ट्रवादी दल एजेपी, जो कि आसू (ऑल असम स्टूडेण्ट्स यूनियन) और असम जातीयतावादी युवा छात्र परिषद् ने मिलकर बनाया था, एक भी सीट नहीं जीत पायी।

असम की मज़दूर-ग़रीब आबादी अपने जीवन की बुनियादी ज़रूरतों तक से महरूम है। इसके बावजूद किसी सही राजनीतिक विकल्प की ग़ैर-मौजूदगी में भाजपा गठबन्धन चुनाव जीत गया। असम के तमाम जनजातीय हिस्सों में संघ परिवार ने ख़ासी पैठ बना ली है। इनकी साम्प्रदायिक फ़ासीवादी ज़हरीली राजनीति के बूते ही यहाँ साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण तेज़ हुआ है और इसका सीधा फ़ायदा भाजपा को मिल भी रहा है, जैसा कि ये चुनावी परिणाम दिखला रहे हैं।

तमिलनाडु में इस बार द्रमुक के नेतृत्त्व में धर्मनिरपेक्ष प्रगतिशील गठबन्धन (एसपीए) की सरकार बनी है। पिछले 10 सालों से राज कर रहे अन्नाद्रमुक गठबन्धन को हटाकर द्रमुक गठबन्धन ने चुनाव जीता है। इस गठबन्धन में डीएमके के अलावा कांग्रेस, एमडीएमके, संसदीय वामपन्थी, थोल थिरुवामलन की वीसीके व कई अन्य छोटे दल शामिल हैं। वहीं दूसरी तरफ़ एआईएडीएमके ने भाजपा, पीएमके व कुछ अन्य छोटे दलों के साथ चुनाव लड़ा। द्रमुक नीत गठबन्धन को 234 सीटों में 159 सीटों पर विजय प्राप्त हुई, जिसमें डीएमके को कुल 133 सीटें हासिल हुई हैं जो कि स्पष्ट बहुमत है। अन्नाद्रमुक गठबन्धन को 75 सीटें हासिल हुईं जिसमें भाजपा को 4 सीटें मिली हैं। भाजपा 20 सीटों पर चुनाव लड़ी थी। वर्ष 2001 से यह पहली बार है कि भाजपा का तमिलनाडु विधानसभा में प्रतिनिधित्व होगा। पीएमके ने, जिसका कि उत्तरी तमिलनाडु की वन्नियार जाति के बीच आधार है, चुनाव से पहले शिक्षा व सरकारी नौकरियों में मौजूद अति पिछड़ी जातियों के कोटे से 10.5 प्रतिशत आरक्षण वन्नियार समुदाय के लिए मुख्यमंत्री पलानीस्वामी की अन्नाद्रमुक सरकार से लागू करवाया था। हालाँकि इस सियासी उठा-पटक के बावजूद पीएमके को 23 सीटों में से केवल 5 सीटों पर ही जीत मिली है। इसके पीछे एक कारण ग़ैर-वन्नियार पिछड़ी जातियों और दलित जातियों का द्रमुक के पक्ष में सुदृढ़ीकरण भी था।

हालाँकि यह भी सच है कि तमिलनाडु के राजनीतिक पटल पर पिछले दो दशक से कई जातिगत दल उभरे हैं। ये तमाम पार्टियाँ पिछड़ी जातियों के वर्चस्व वाले द्रविड़ अस्मिता आधारित दलों, जैसे कि द्रमुक और अन्नाद्रमुक के पारम्परिक वोट बैंक में सेंध लगा रही हैं। इसके अलावा दोनों प्रमुख द्रविड़ पार्टियों की लोकप्रियता में भी कमी आयी है और द्रमुक और अन्नाद्रमुक को राज्य की सरकार बनाने के लिए गठबन्धनों का सहारा लेना पड़ा है, जैसा कि हालिया चुनावों ने दिखलाया भी है। हालाँकि आज भी बुर्जुआ राजनीति के दायरे में द्रविड़ पहचान का सवाल उतना ही महत्वपूर्ण है जितना आज से सात-आठ दशक पहले था जब द्रविड़ आन्दोलन की शुरुआत हुई थी। यही कारण है कि द्रविड़ अस्मिता और प्रतीकवाद की राजनीति ही आमतौर पर संसदीय राजनीति में छायी रहती है। वर्ष 1967 से ही द्रमुक और अन्नाद्रमुक तक़रीबन बारी-बारी से तमिलनाडु में सत्ता सुख भोगते रहे हैं। इस बार द्रमुक गठबन्धन की जीत के पीछे अन्नाद्रमुक सरकार के ख़िलाफ़ सत्ता विरोधी लहर भी काम कर रही थी; वहीं जयललिता के निधन के बाद अन्नाद्रमुक में किसी एक विशाल राजनीतिक क़द के नेता का अभाव भी एक वजह रही, बावजूद इसके पार्टी ने 66 सीटें जीतीं और 33.29 प्रतिशत वोट हासिल किये। द्रमुक ने 133 सीटें जीतकर 37.7 प्रतिशत वोट बटोरे। अन्नाद्रमुक से 2018 में अलग हुई एएमएमके कुछ ख़ास करतब नहीं दिखा पायी। वहीं द्रमुक गठबन्धन में शामिल थोल थिरुमावलन की वीसीके 6 में से 4 सीटों पर विजयी रही। कुल मिलकर कह सकते हैं कि भाजपा दक्षिण के इस राज्य में भी पाँव जमाने की कोशिश कर रही है। और जैसा कि पहले भी देखा गया है जिन राज्यों में भाजपा का कोई पारम्परिक सांगठनिक ढाँचा या आधार नहीं रहा है, उन तमाम राज्यों में वह क्षेत्रीय दलों के साथ गठजोड़ बनाकर उनकी बैसाखी के सहारे अपना आधार विकसित करती है और समय आने पर अपने चुनावी सहयोगियों पर ही वह बैसाखी ठीक से जमा भी देती है!

जो महानुभाव इस वक़्त तृणमूल कांग्रेस, द्रमुक आदि की जीत में भारतीय "संघवाद" की विजय देख रहे हैं वे यह समझ पाने में अक्षम हैं कि इसी संघवाद का सहारा लेकर भाजपा उन राज्यों पर अपनी पकड़ मज़बूत कर रही है जहाँ कि उसका कोई आधार नहीं रहा है। और यह काम भाजपा द्वारा हर-हमेशा क्षेत्रीय बुर्जुआ दलों की बाँह मरोड़कर ही नहीं किया जाता है, बल्कि क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाले ये दल ख़ुद ऐसे संश्रय के इच्छुक हैं क्योंकि इन्हें केन्द्रीय सत्ता में पहले से मौजूद अपनी हिस्सेदारी मज़बूत करने और बढ़ाने का मौक़ा मिलता है। यह बात अलग है कि चाहे द्रमुक आये या अन्नाद्रमुक, तमिलनाडु की मेहनतकश जनता के जीवन के हालात में कोई आमूलगामी तब्दीली नहीं आयेगी। तमिलनाडु में द्रमुक-अन्नाद्रमुक के सांपनाथ और नागनाथ के इस सियासी रस्साकशी के बीच राज्य की मेहनतकश जनता का कोई भी भविष्य नहीं है। यह दोनों ही दल पूँजीपति वर्ग की ही सेवा करते हैं और आम मेहनतकश जनता को द्रविड़ व तमिल अस्मितावाद और प्रतीकवाद के गोल चक्कर में उलझाकर रखते हैं।

केरल में इस बार भी सीपीएम की अगुआई में 'लेफ़्ट डेमोक्रेटिक फ्रण्ट' (एलडीएफ़) के पास ही सत्ता आ गयी है। इसने 140 सीटों में से 99 पर जीत दर्ज की। बंगाल में कांग्रेस के साथ गठबन्धन करके चुनाव लड़ने वाली सीपीएम की केरल में मुख्य विरोधी पार्टी कांग्रेस ही थी! यह इन चुनावबाज़ मदारियों का अवसरवाद ही है कि इनके लिए मुख्य चीज़ सत्ता है न कि सिद्धान्त। कांग्रेस-नीत गठबन्धन यूडीएफ़ को 41 सीटों से सन्तोष करना पडा है जिसमें कांग्रेस को कुल 93 सीटों में 21 सीटों पर जीत मिली है। ये दोनों ही गठबन्धन बारी-बारी से केरल की गद्दी पर क़ाबिज़ रहे हैं, लेकिन लगभग चार दशकों बाद लगातार दो बार एक ही गठबन्धन की सरकार बनी है। वहीं इस बार भाजपा केरल में अपना खाता भी नहीं खोल पायी है, हालाँकि 2016 में वह एक सीट जीती थी। एलडीएफ़ की जीत के प्रमुख कारण पिछली दो बार से आयी भीषण बाढ़ के दौरान किया गया सरकारी राहत कार्य है, 2018 में निपा वायरस संक्रमण के दौरान प्रदान की गयी स्वास्थ्य व अन्य आवश्यक सेवाएँ हैं और हाल में कोरोना महामारी का अपेक्षाकृत बेहतर रोकथाम का इन्तज़ाम है। हालाँकि चुनाव समाप्त होते ही केरल में कोरोना संक्रमण के मामले कई गुना बढ़ गये हैं। वैसे तो इन दोनों ही गठबन्धनों पर ही समय-समय पर भ्रष्टाचार के तमाम आरोप लगते रहे हैं, लेकिन वास्तविक विकल्प के अभाव में इन्ही दोनों में से किसी एक की सरकार बनती रही है। इसके अलावा केरल में संसदीय वामपन्थ की मौजूदगी एक भ्रम भी पैदा करती है, अक्सर नौजवानों में, जो इसी को समाजवाद का मॉडल समझ बैठते हैं। यह भ्रम भी किसी वास्तविक विकल्प के संगठित और संघटित होने में एक बड़ी अड़चन का काम करता है। जबकि सच्चाई यह है कि वहाँ पर शासन करने वाली तथाकथित-कम्युनिस्ट पार्टियाँ उदारीकरण-निजीकरण की लुटेरी नीतियों को लागू करने में क़तई पीछे नहीं हैं। बहुत से लोगों को यह भी विभ्रम है कि केरल में फ़ासीवादी भाजपा का रथ रोकने के लिए इन संसदीय वामपन्थियों को जिताना ज़रूरी है जबकि सच्चाई यह है कि फ़ासीवाद का कुक्कुरमुत्ता सामजिक जनवाद और संशोधनवाद के खण्डहर पर ही फलता-फूलता है। इसका सबसे बड़ा उदहारण जर्मनी में नाज़ीवाद का उभार था और हमारे देश में हिन्दुत्व फ़ासीवाद का उभार है। लेकिन जहाँ तक केरल की मेहनतकश जनता की जीवन स्थितियों का सवाल है तो उसके सामने भी उसके जीवन का सबसे बुनियादी सवाल रोज़गार का सवाल मुँह बाये खड़ा है और एलडीएफ़ या किसी अन्य सरकार के पास उसका कोई हल नहीं है। साथ ही, केरल में भाजपा की चुनावी हार को क़तई हलके में नहीं लिया जाना चाहिए। संघ परिवार बेहद संयम और मुस्तैदी से यहाँ अपना विचारधारात्मक व सांगठनिक आधार तैयार कर रहे हैं। सबरीमाला के मुद्दे पर भी भाजपा एक आबादी के बीच जनमत बनाने में कामयाब हुई थी और चुनाव के दौरान भी वह इस मसले का इस्तेमाल कर रही थी। लेकिन हमारे देश के लिबरल वायरस से ग्रस्त बौद्धिक तबक़े को यह वास्तविकता दिखलाई नहीं पड़ती है क्योंकि वह स्वयं ही राजनीतिक निकटदर्शिता का बुरी तरह से शिकार है।

पुदुचेरी में भाजपा गठबन्धन की सरकार बनने जा रही है। यहाँ की 33 विधानसभा सीटों में से 30 पर विधानसभा चुनाव होते हैं और 3 सदस्य केन्द्र द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। यहाँ 10 सीटें ऑल इण्डिया एन आर कांग्रेस और 6 सीटें भाजपा ने जीती हैं। 2016 में यहाँ कांग्रेस गठबन्धन सत्ता में आया था। इस बार कांग्रेस को यहाँ 2 तो द्रमुक को 6 सीटें मिली हैं। 6 सीटें यहाँ निर्दलीय विधायकों ने जीती हैं। वैसे तो भाजपा की तरफ़ से लड़े ज़्यादातर उम्मीदवार कांग्रेस से ही दल बदल कर आये हैं और भाजपा का मौजूदा विधायक मण्डल वस्तुतः 2016-21 का कांग्रेस का विधायक मण्डल ही था! बुर्जुआ दलगत राजनीति की बजबजाती और बदबू मारती सड़ाँध तो पिछले 6 वर्षों में सभी रिकॉर्ड तोड़ चुकी है। यही कारण है कि इस पर पूँजीवादी संसदीय विपक्ष रुदालियों की तरह छाती पीटता है कि भाजपा वाले हमारे विधायकों को ऐसा ऑफ़र देते हैं कि ये निरीह बेचारे मना ही नहीं कर पाते हैं! इसे कहते हैं वैचारिक प्रतिबद्धता जो कि इनकी पूँजी के प्रति ही है! साम्राज्यवाद के इस पतनशील पूँजीवादी दौर में बुर्जुआ राजनीति में भी "मूल्यों" का जिस प्रकार का ह्रास हुआ है, स्वयं पूँजीवादी पैमानों से भी, वाक़ई अचम्भित करने वाला है। वैसे मूल्य भी वर्ग-निरपेक्ष तो होते नहीं हैं और बुर्जुआ राजनीति में मौक़ापरस्ती और दलबदलूपन ही सबसे मूल्यवान निधि है। यही कारण है कि इस ह्रासमान दौर में भाजपा की जोड़-तोड़ की राजनीति ख़ूब परवान चढ़ रही है। एन आर कांग्रेस जैसे क्षेत्रीय दलों और एआईडीएमके के द्रविड़ अस्मितावादियों को संघी फ़ासीवादी भाजपा के साथ हाथ मिलाने में कोई गुरेज़ भी नहीं है। पुदुचेरी की मेहनतकश जनता के हितों का प्रतिनिधित्व मौजूदा राजनीतिक विकल्पों में से कोई सा भी विकल्प नहीं करता था। सत्ता परिवर्तन से फ़र्क़ सिर्फ़ इतना आना है कि पहले यहाँ की जनता की छाती पर कांग्रेस बैठकर राज कर रही थी अब उसे हटाकर भाजपा क़ाबिज़ हो गयी है।

इन राज्यों के विधानसभा चुनाव परिणामों के बाद जो मुख्य बात दिखलाई पड़ी वह है भारत के लिबरल वायरस से ग्रस्त बुद्धिजीवियों व क़िसिम-क़िसिम के सामाजिक जनवादियों और वाम हलक़ों की अनैतिहासिक और ग़ैर-सटीक सोच से पैदा हुई ख़ुशफ़हमी और अति-आशावाद की आँधी जो सबसे अधिक सोशल मीडिया पर चली। चुनावों के इन मिश्रित नतीजों को यह दायरा फ़ासीवादी राजनीति के अन्त के तौर पर प्रस्तुत कर रहा है और मेहनतकश जनता को इसके ख़तरे के प्रति असावधान कर रहा है और मौजूदा चुनौतियों से लड़ने के ख़िलाफ़ क्रान्तिकारी हस्तक्षेप निर्मित करने के रास्ते में मज़दूर वर्ग को निहत्था और अरक्षित छोड़ रहा है। इसको ही हमने बुर्जुआ उदारतावादी विभ्रम कहा है। वास्तविक क्रान्तिकारी विकल्प की अनुपस्थिति पर चिन्ता करने की बजाय देश के उल्लेखनीय बौद्धिक हलक़ों में एक अलग ही क़िस्म का अनालोचनात्मक उल्लास और उत्सव का सा माहौल दिखायी दिया है। इस लिबरल जमात के विषय में लेनिन का यह मूल्यांकन आज भी उतना ही सटीक है कि जब किसी लिबरल को गाली दी जाती है, तो वह कहता है: भगवान का शुक्र है, उन्होंने मुझे पीटा नहीं। जब उसकी पिटाई हो जाती है तो वह भगवान का फिर शुक्रिया अदा करता है कि उसे जान से नहीं मारा गया। और जब उसे मार दिया जाता है तो वह फिर भगवान का धन्यवाद-ज्ञापन करेगा कि चलो अच्छा ही है कि अनश्वर आत्मा को इस नाशवान शरीर से मुक्ति तो मिल गयी! यह है इनकी फ़ितरत। क्रान्तिकारी बदलाव इन्हें बदहज़मी देते हैं इसलिए यह छोटी तब्दीलियों से ही काम चला लेते हैं!

दूसरे ऐसे लिबरल मानस की समूची राजनीति का ध्येय वाक्य "कम बुरे" विकल्प का चुनाव करना होता है। बीच-बीच में कुछ क्रान्तिकारी और तथाकथित क्रान्तिकारी दल भी इसी लिबरल वायरस से ग्रस्त हुए पाये जाते हैं। ख़ास तौर पर बंगाल में ममता बनर्जी और तृणमूल कांग्रेस की जीत पर ऐसा ही दृश्य प्रस्तुत हो रहा है। बुर्जुआ

(पेज 13 पर जारी)

पाँच राज्यों में सम्पन्न चुनावों के नतीजे और सर्वहारा वर्गीय नज़रिया

(पेज 12 से आगे)

चुनावों की नूराकुश्ती में हार-जीत का खेल तो चलता ही रहता है। ज़्यादा दिन कहाँ हुए जब बिहार विधानसभा चुनाव में लालू यादव और नितीश कुमार की जोड़ी (राजद-जदयू के अवसरवादी गठजोड़) ने भाजपा को हराया था। तब भी बहुत सारे चतुर सुजान लिबरल गण फ़ासीवाद की मुक्कमल हार की बातें करते नहीं थक रहे थे। फिर हुआ क्या? नितीश कुमार ने बिना कोई देर किये भाजपा का दामन थाम लिया और उसके बाद उनके होकर रह गये, बस अकेले छूट गये तो हमारे बेचारे लिबरल सज्जन! इसके बाद 2019 के लोक सभा चुनाव के समय उत्तर प्रदेश में मायावती और अखिलेश यादव के साथ आने के बाद इन लिबरल जमातों की शिराओं में मानो नये रक्त का संचार हो गया था! लेकिन वह आशावाद भी ज़्यादा दिन नहीं टिका। आजकल उद्धव ठाकरे इनके प्रिय नायकों में से एक हैं। बुर्जुआ चुनावों की धींगामुश्ती में हार-जीत को ख़ुद इन पार्टियों के नेता किसी सर्कस से कम नहीं लेते हैं, हालाँकि इन्हें लेकर लिबरल वायरस से ग्रस्त लोगों का हलक़ बेमतलब ही सूखता रहता है। हमें यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि कोई भी छद्म आशावाद आगे चलकर और भी गहरी निराशा को जन्म देता है। लुटेरों के इस या उस दल की जीत से छद्म आशावाद पालने की बजाय जनपक्षधर क्रान्तिकारी ताक़तों का असल ध्यान मेहनतकश जनता की मुक्ति के असल विकल्प को खड़ा करने की ओर होना चाहिए।

इसके अलावा लिबरलों की इस जमात में स्मृतिलोप की समस्या भी बड़े पैमाने पर पायी जाती है। जिन भी चेहरे-मोहरों को इन्होंने फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ नायकत्व की भूमिका प्रदान करने की हास्यास्पद कोशिश की है उन सभी का इतिहास इन फ़ासिस्टों के साथ सत्ता की सेज गरम करने के अवसरों से भरा पड़ा है। चाहे वह मायावती रही हो या अब इस जमात की नयी 'पोस्टर गर्ल' ममता बनर्जी ही क्यों न हो, इन सभी ने अतीत में भाजपा के साथ राजनीतिक पीगें काफ़ी बढ़ायीं थीं। लेकिन विभ्रम-मतिभ्रम के शिकार इन लिबरल जनों को इससे क्या लेना-देना है? सच्चाई यह है कि किसी विचारधारात्मक-सैद्धान्तिक धुरी और इतिहासबोध के अभाव में ये तबक़ा इस या उस छद्म विकल्प के पीछे बदहवास होकर दौड़ लगाता रहता है। वास्तविक बदलाव की किसी परियोजना पर काम करना इन्हें कोई पहाड़ उठाना प्रतीत होता है। और फ़िर ये ब्रेष्ट के शब्दों में छोटे बदलावों के माध्यम से बड़े बदलावों का रास्ता रोकने में लग जाते हैं।

एक दूसरी जमात भी मौजूद है जो इन चुनावों के नतीजों को भारतीय संघवाद की विजय के तौर पर घोषित कर रही है। इस जमात में भी कई तरह के लोग शामिल हैं – कांग्रेस-समर्थकों से लेकर संसदीय वामपन्थियों के बौद्धिक भी। लेकिन इस जमात के संघीय कोरस में अब "नाम में मार्क्सवादी लेकिन असल में क़ौमवादी" भी सुर से सुर मिला रहे हैं। पंजाब के ये भाषाई अस्मितावादी-बुण्डवादी-क़ौमवादी इन चुनावों के विश्लेषण करने के बहाने अपने संघवाद के ढोल-मंजीरे लेकर एक बार फिर आ धमके हैं। हालाँकि इनका यह विश्लेषण यही दर्शाता है कि इनकी आम तर्कबुद्धि भी किस क़दर कंगाली का शिकार हो चुकी है और मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी सिद्धान्त और व्यवहार से इनका विपथगमन द्रुत गति से हो चुका है।

बंगाल के चुनाव परिणाम पर इन क़ौमवादियों का कहना है कि यह केन्द्र के हिन्दुत्ववादी केन्द्रीय एजेण्डे पर संघवाद की विजय है! ये क़ौमवादी इस प्रकार के वर्ग-विश्लेषण रहित बुर्जुआ राष्ट्रवाद के दीवाने पिछले लम्बे समय से हैं। अब इनसे कोई पूछे कि ममता बनर्जी की टीएमसी का अस्मितावाद, केरल के सामाजिक फ़ासीवादियों की राजनीति और तमिलनाडु के भाषाई अस्मितावादियों की उठापटक उक्त राज्यों की मेहनतकश जनता के किन हिस्सों के असल हितों का प्रतिनिधित्व करती है? बुर्जुआ राष्ट्रवाद और क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग के प्रिय नारे यानी कि "संघवाद" पर इस हद तक लहालोट हो जाना कहीं से भी कम्युनिस्ट राजनीति और सर्वहारा वर्गीय कार्यदिशा नहीं है, जिसका परिचय ये क़ौमवादी आये दिन देते रहते हैं। दूसरे, जिस क़िस्म की पहचान और अस्मितावादी राजनीति तृणमूल कांग्रेस द्वारा इस चुनाव और आम तौर पर भी बंगाल की राजनीति में की जाती रही है वह हर हाल में मज़दूर वर्ग की इंक़लाबी सियासत के लिए घातक है और मज़दूर वर्ग की भावी एकता की सम्भावना-सम्पन्नता में बाधक है। साथ ही, इन क़ौमवादियों का यह दावा कि भाजपा के "जय श्री राम" के नारे के ऊपर ममता का "जय बांग्ला" का नारा हावी हो गया, भी सच्चाई से कोसों दूर है। इन चुनावों में ममता बनर्जी ने "दुर्गा" के प्रतीक का इस्तेमाल सबसे ज़्यादा और खुलकर किया है क्योंकि "हिन्दू" पहचान पर वह भी अपना दावा नहीं छोड़ना चाहती थी और बंगाल की हिन्दू आबादी को अपने "हिन्दू ब्राह्मण" होने का सबूत दे रही थी और "नर्म हिन्दुत्व" का कार्ड खेल रही थी। यह वास्तव में संघ परिवार की हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्ट राजनीति की एक जीत ही है कि बुर्जुआ चुनावी अखाड़े में इसने हर प्रतिद्वन्द्वी को अपनी "हिन्दू" पहचान साबित करने के लिए बाध्य किया है और इस पूरे खेल के नियम अपने अनुकूल तय कर दिये हैं। लेकिन हमारे क़ौमवादी इस पर भी तालियाँ पीट रहे हैं। सच्चाई यह है कि किसी भी राजनीतिक परिघटना का विश्लेषण करने हेतु मार्क्सवादी नज़रिया ये क़ौमवादी-भाषाई कट्टरतावादी पहले ही कोल्ड स्टोरेज के हवाले कर चुके हैं और इसलिए हर घटना को व्याख्यायित करने के लिए अपने विचारधारात्मक तौर पर फटे झोले से एकठो संघवाद का उतना ही ख़स्ताहाल उस्तरा निकाल लेते हैं और सच्चाई की हजामत करने में जुट जाते हैं।

संघवाद की पिपहरी बजाने वाले ये क़ौमवादी असम में चुनाव नतीजों की अपने संघवादी चश्मे से कोई व्याख्या करने से साफ़ बच निकलते हैं। इनके अनुसार तो भारत जैसे एक बहुराष्ट्रीय देश में हिन्दुत्व फ़ासीवादियों की सबसे बड़ी कमज़ोरियों में से एक संघवाद ही है, तो फिर यह कमज़ोरी असम में रंग क्यों नहीं लायी? इसलिए असम के मामले में, जहाँ असमिया राष्ट्रीय पहचान और स्थानीय भावनाएँ किसी भी मायने में बांग्ला अस्मिता से कमतर नहीं हैं, बल्कि यह कहना ज़्यादा उपयुक्त होगा की असम में यह अधिक हावी हैं, वहाँ के चुनाव परिणाम के ऐसे ही संघवादी विश्लेषण के समय ये क़ौमवादी दायें-बायें देखने लगते हैं। तमाम स्थानीय अन्तर्विरोधों और तथाकथिक संघवादी चैम्पियनों को भाजपा ने कैसे साध लिया? यही नहीं, कर्नाटक से लेकर पंजाब तक में, महाराष्ट्र से लेकर गुजरात तक में और हरियाणा (जिसे कि ये बुण्डवादी-राष्ट्रवादी अलग क़ौम मानते हैं!) से लेकर त्रिपुरा तक में चुनावी बिसात पर भाजपा की फ़ासीवादी मुहिम या तो उत्तरोत्तर मज़बूत होती गयी है या इसने क़ौमवादियों के प्रिय संघवादी झण्डाबरदारों को एकदम से निगल लिया है। यह यही दिखलाता है कि मार्क्सवादी विज्ञान की धुरी से जब किसी का हाथ और साथ छूट जाता है, तो ऐसे ही विरोधाभासी नतीजे सामने निकलकर आते हैं। क़ौमवादियों और साथ ही तमाम अन्य संघवाद के पैरोकारों को वास्तव में हिन्दुत्व फ़ासीवाद की असल फ़ितरत का पता ही नहीं है जिसका प्रमुख मक़सद साम्राज्यवाद के मौजूदा दौर में पूँजीपति वर्ग के सबसे प्रतिक्रियावादी हिस्सों की सेवा करना ही है। इसके लिए वह ख़ुद, जहाँ सुविधाजनक हो, केन्द्रीयता की धज्जियाँ उड़ाते हुए देश के किसी भी कोने के अलगाववादियों से हाथ मिला सकता है, गाय को थाली में सजाकर पेश कर सकता है और भाषा-संस्कृति को लेकर मनमुआफ़िक़ छूटें दे सकता है। ये भारतीय फ़ासिस्टों का विचारधारात्मक लचीलापन है जिसे जनसंघ और फिर भाजपा के समय से घटित होते हुए हम आसानी से देख सकते हैं। लेकिन ये क़ौमवादी, संघियों की हिन्दुत्व फ़ासीवादी विचारधारा में किस आदर्श, एकरूपता और निरन्तरता को तलाश रहे हैं यह भी शोध का विषय है! हालाँकि क़ौमवादियों के लेखन और चिन्तन में बुर्जुआ संघवाद से लगातार बढ़ रही पींगों की निरन्तरता अवश्य दिखलायी पड़ती है। वास्तविकता यह है कि तमाम राज्यों में क्षेत्रीय बुर्जुआ वर्ग के तमाम राजनीतिक नुमाइन्दों को न तो हिन्दुत्ववादी फ़ासीवादियों के साथ सत्ता की सेज सजाने में कोई गुरेज़ है तथा न ही उनकी गोदी में बैठने में इन्होंने अतीत में ही कोई कोताही बरती है। क्या कांग्रेस और क्या स्थानीय पार्टियों के नेता सभी के सभी तो गन्दे नालों के पानी की तरह भाजपा की गटरगंगा में आते-जाते रहते ही हैं। क्या इसे देखने के लिए किसी ख़ास हुनर की ज़रूरत है? तमाम राज्यों में भाजपा मज़बूत ही हमारे क़ौमवादियों के प्रिय स्थानीय संघवादी चैम्पियनों के साथ गठजोड़ करके हुई है। स्वयं पंजाब इसका जीता-जागता उदाहरण है।

असल में, इन क़ौमवादियों के अनुसार भारत में हरेक राष्ट्र और राष्ट्रीयता दमित है। इनके अनुसार इन तमाम राष्ट्रों को क़ौमी चरित्र से रिक्त बेक़ौमी/अराष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग दबा रहा है। यह विश्लेषण ही कितना दिवालिया है यह इतना पढ़कर ही समझ आ जाता है। सच यह है कि भारत का शासक वर्ग बेक़ौमी नहीं है, जैसा कि क़ौमवादियों का अहमक दावा है बल्कि एक बहुक़ौमी या बहुराष्ट्रीय शासक वर्ग है जिसमें हर राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग को अपनी शक्तिमत्ता और आकार के हिसाब से प्रतिनिधित्व प्राप्त है। ज़ाहिरा तौर पर सत्ता में हिस्सेदारी को लेकर इन अलग-अलग धड़ों में कश्मकश चलती रहती है, जिसका राजनीतिक प्रतिबिम्बन बुर्जुआ संसदीय राजनीति में अलग-अलग दलों की खींचतान के रूप में भी होता है लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि इन राष्ट्रों के बुर्जुआ वर्ग दमित हैं। केन्द्र से लेकर राज्यों के स्तर पर होने वाली चुनावी राजनीति से लेकर सामाजिक धरातल पर उठने वाले विभिन्न आन्दोलनों में हम इस चीज़ को होता हुआ बड़ी ही आसानी से देख सकते हैं। लेकिन आँखों पर यदि संघवाद और क़ौमवाद का पट्टा चढ़ा हुआ हो तो इतने सामान्य तर्क और तथ्य भी किसी को समझाये नहीं जा सकते हैं। वास्तविकता यह है कि आज कश्मीर और उत्तरपूर्व के राज्यों के अलावा राष्ट्रीय प्रश्न भारत में और कहीं मौजूद नहीं है। लेकिन इन क़ौमवादियों में इतना साहस भी नहीं है कि यह बोल सकें कि यदि भारत के सभी राष्ट्र ही "क़ौमी" दमन की चक्की में पिस रहे हैं, तो फिर लेनिनवादी कार्यदिशा के अनुसार क़ौमी दमन के ख़िलाफ़ सिर्फ़ एक क्रान्तिकारी कार्यक्रम बनता है – आत्मनिर्णय के अधिकार समेत अलग होने के अधिकार का कार्यक्रम। संघवाद या किसी भी प्रकार की क्षेत्रीय स्वायत्तता की हिफ़ाज़त या माँग इस राष्ट्रीय दमन के ख़ात्मे का कार्यक्रम हो ही नहीं सकते हैं, जोकि एक शुद्धतः सुधारवादी कार्यक्रम है, कम से कम लेनिनवादी कार्यदिशा तो इस प्रश्न पर यही है। लेकिन जैसा कि हमने कहा कि इस क्रान्तिकारी साहस के अभाव के चलते ही जब ये क़ौमवादी ख़ुद को इन "दमित" क़ौमों के रहनुमा के तौर पर पाते हैं तो इससे लड़ने के लिए ये झट से जेब से संघवाद की पिपहरी निकाल बजानी शुरू कर देते हैं!

मज़दूर वर्ग का क्रान्तिकारी दर्शन मार्क्सवाद संघवाद का विरोध करता है और सुसंगत जनवाद पर आधारित केन्द्रीयतावाद का समर्थन करता है। संघवाद और कुछ नहीं क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग का नारा होता है। पूँजीवाद के अन्तर्गत मज़दूर जमात को संघवाद की विशेष तौर पर मुख़ालफ़त करनी चाहिए क्योंकि यह विभिन्न राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं के मज़दूरों-मेहनतकशों की भावी एकजुटता को अवरुद्ध करता है और उनके बीच पार्थक्य की दीवारें खड़ी करता है। संघवाद का नारा बुलन्द करने का मतलब मज़दूर वर्ग की असल राजनीति और वर्ग संघर्ष से पलायन कर मज़दूर वर्ग को अपनी क़ौम के पूँजीपति वर्ग का पुछल्ला बनाना है। और अपने संघवाद के घिसे-पिटे साज़-बाज के साथ यही काम भाषाई अस्मितावादी-बुण्डवादी-क़ौमवादी करने में जुटे हुए हैं। पूरी दुनिया की तरह भारत में भी पूँजीवादी शोषण और इसके द्वारा पैदा किये जा रहे तमाम तरह के भाषाई, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, जातीय और लैंगिक विभेदों का ख़ात्मा सर्वहारा वर्गीय दृष्टिकोण पर क़ायम रहकर ही सम्भव है। हिन्दुत्व फ़ासीवाद के रूप में पूँजीवाद के हितरक्षक को भी मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी वर्गीय एकजुटता की लोह मुष्टिका के प्रहार से ही धूल में मिलाया जा सकता है, संघवाद के सुधारवादी झुनझुने से नहीं।

इन चुनावों में एक बार फिर से भाकपा-माकपा जैसी संसदीय वामपन्थी संशोधनवादी पार्टियों की भी वास्तविक स्थिति सामने आ गयी। बुर्जुआ राजनीति के मलकुण्ड में आकण्ठ नहा चुकीं ये पार्टियाँ अपने घटिया क़िस्म के राजनीतिक अवसरवाद को ढाँपने के लिए उसे नित-नये वैचारिक आवरण पहनाती रहतीं हैं। आजकल ये अपनी मौक़ापरस्ती और मज़दूर वर्ग से अपनी ग़द्दारी को छिपाने के लिए अन्य पूँजीवादी दलों से हाथ मिलाने को फ़ासीवादी भाजपा के विरोध की रणनीति का नाम देती हैं और दावा करती हैं कि मोदी-शाह के पहिये को आगे बढ़ने से रोकने के लिए यह वक़्त की नज़ाक़त है, जिसे कि इनके अनुसार मज़दूर वर्ग को समझना चाहिए! इनकी इस तथाकथिक फ़ासीवाद-विरोधी रणनीति का दिवालियापन इस बार के चुनावों के दौरान ज़ाहिर हो भी गया जब एक तरफ़ बंगाल में यह फ़ासीवादी

(पेज 14 पर जारी)

एक ऐतिहासिक फ़ासिस्ट नरसंहार में बदल चुकी कोविड महामारी और हठान्ध कोविडियट्स का ऐतिहासिक अपराध

– कविता कृष्णपल्लवी

नदियों में सैकड़ों की तादाद में लाशें उतरा रही हैं। नीचे उन्हें कुत्ते किनारे घसीटकर नोच रहे हैं और ऊपर गिद्ध-चील मँड़रा रहे हैं।

'भास्कर' जैसे सत्ता-समर्थक अख़बार भी कोविड से वास्तविक मौतों की संख्या सरकारी आँकड़ों से पाँच गुनी अधिक बता रहे हैं। कई शहरों में कोविड से हुई मौतों के सरकारी आँकड़ों और श्मशानों में पहुँची ऐसे मरीज़ों की लाशों की संख्या के बीच दस गुने तक का अन्तर पाया गया है। उत्तर प्रदेश में निजी अस्पताल कोविड से हुई अधिकांश मौतों का कारण दस्तावेज़ों में कुछ और दर्ज कर रहे हैं।

उत्तर भारत, विशेष रूप से उत्तर प्रदेश और बिहार के अधिकांश गाँवों में रोज़ाना कहीं 5 तो कहीं 15 लोग मर रहे हैं। विशेष कर कुम्भ, बंगाल के चुनावों और उत्तर प्रदेश के पंचायती चुनावों के बाद गाँवों में मौत का ताण्डव हो रहा है और मरघटी सन्नाटा पसरा हुआ है। गाँवों में हो रही मौत की यह बारिश सरकारी आँकड़ों से लगभग एकदम बाहर है।

प्रतिष्ठित अन्तरराष्ट्रीय जर्नल 'लांसेट' का कहना है अगस्त तक भारत में कोविड मौतों की संख्या दस लाख के ऊपर हो जायेगी। ज़मीनी हक़ीक़त यह है कि मौतें सरकारी आँकड़ों से कम से कम दस गुना अधिक हैं! कम से कम दस गुना अधिक! यानी दस लाख की संख्या तो अभी पार हो चुकी है।

वे हठी जड़वामन कोविडियट्स, यानी कोविड-मूर्ख जो अभी भी कोरोना को "सरकारी प्रचार" और 'सीज़नल फ़्लू' बता रहे हैं, वे पहले से ही अपने अनपढ़पन के चलते 'षड्यंत्र सिद्धान्त' की फेरी लगाते हुए वस्तुगत तौर पर प्रतिक्रियावादी भूमिका निभा रहे थे, लेकिन अब वे एक बर्बर फ़ासिस्ट सत्ता के नरसंहार जैसे ऐतिहासिक अपराध पर पर्दा डालने का ऐतिहासिक अपराध कर रहे हैं। ख़ास तौर पर उन पथभ्रष्ट लोगों को तो क़त्तई माफ़ नहीं किया जा सकता जो अपने को 'क्रान्तिकारी वामपन्थी' कहते हुए यह जघन्य कुकर्म कर रहे हैं।

पंजाब में ये "वामी" कोविडियट्स जो इन दिनों नरोदवाद और राष्ट्रवाद का कच्छा-कड़ा-कृपाण धारण किये हुए धनी किसानों और क्षेत्रीय (इनके हिसाब से "राष्ट्रीय") छोटी-मँझोली बुर्जुआज़ी के जुलूसों के आगे उन्मादी निहंगों की तरह नाच रहे हैं, वे अभी भी कह रहे हैं कि सरकार ने किसानों के आन्दोलन और अन्य जनान्दोलनों को कुचलने और काले क़ानूनों को लादने के लिए यह सारा ड्रामा रचा है। इसलिए यह अफ़ीमची राजनीतिक मण्डली पंजाब में लॉकडाउन का विरोध कर रही है और सभी स्कूलों को भी खोलने की माँग कर रही है। धिक्कार है इस पागलपन को!

बेशक बिना किसी तैयारी के (पिछली बार की तरह) लॉकडाउन लगाना ग़रीब मेहनतकशों की भारी आबादी को भुखमरी और तबाही के मुँह में झोंकना होगा। हम निरपेक्षत: न लॉकडाउन का विरोध कर सकते हैं न समर्थन। हमारी माँग यह होनी चाहिए कि अगर वायरल संक्रमण की श्रृंखला को तोड़ने के लिए राष्ट्रीय या क्षेत्रीय स्तर पर लॉकडाउन लगाना ही पड़े, तो उसके पहले यह सरकार की ज़िम्मेदारी बनती है कि वह सरकारी गोदामों में ठँसे पड़े अनाज की ही नहीं, बल्कि सभी बुनियादी ज़रूरत की चीज़ों की घर-घर तक आपूर्ति सुनिश्चित करे। और यह साबित किया जा सकता है कि यह क़त्तई सम्भव है। हमारी असल बुनियादी माँग यह बनती है कि स्वास्थ्य-सेवाओं का अधिकतम सम्भव तात्कालिक विस्तार किया जाये, और दूरगामी तौर पर, स्वास्थ्य-सेवा के बुनियादी ढाँचे को व्यापक और सुदृढ़ बनाने की तथा सभी प्रकार की स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सुविधाओं को नि:शुल्क समूची आबादी को मुहैय्या करने की घोषणा की जाये।

वर्तमान आपातकालीन स्थिति में हमारी यह फ़ौरी माँग होनी चाहिए कि सभी निजी अस्पतालों, नर्सिंग होम्स, फ़ार्मास्युटिकल कम्पनियों और दवा-व्यापार के समूचे सेक्टर का तत्काल प्रभाव से निजीकरण कर दिया जाना चाहिए और सेना तथा अर्धसैनिक बलों के पास चिकित्सा सुविधाओं का जो विराट तंत्र और मेडिकल स्टाफ़ है, उसे तुरन्त आम जनता की सेवा में लगा दिया जाना चाहिए। मेहनतकश अवाम का नारा यह होना चाहिए कि उसे न भूख से मरना स्वीकार है, न महामारी से!

यही समय है जब हम एक प्रत्यक्ष जीवित मुद्दे के तौर पर स्वास्थ्य व चिकित्सा सुविधाओं को जीने का बुनियादी अधिकार बताते हुए क्रान्तिकारी प्रचार का काम क़ायल करने वाले ढंग से चला सकते हैं और सभी स्वास्थ्य-चिकित्सा सेवाओं के राष्ट्रीकरण की माँग को लेकर प्रभावी ढंग से जन-लामबन्दी की शुरुआत कर सकते हैं।

यह समय यह सवाल उठाने का है कि वैक्सीन ख़रीदने के लिए सरकार ने 35000 करोड़ की जिस रक़म की घोषणा की थी, वह कहाँ चली गयी? पीएम केयर फ़ण्ड में बटोरी गयी खरबों की राशि कहाँ गयी? कोविड की दूसरी लहर की विशेषज्ञों द्वारा बार-बार चेतावनी दी जाने के बाद भी उसका सामना करने की तैयारी में इतनी आपराधिक लापरवाहियाँ क्यों हुईं? अस्पताल, वेण्टिलेटर, बेड, आक्सीजन, जीवनरक्षक दवाओं, मेडिकल स्टाफ़ – इन सबके भीषण अभाव के चलते इतने लोगों का मरना क्या सत्ता-प्रायोजित नरसंहार नहीं है?

आज का सवाल यह बनता है कि 20,000 करोड़ रुपये की लागत से बन रहे सेण्ट्रल विस्टा के काम को रद्द करके सौ-सौ करोड़ की लागत वाले 200 अस्पताल बनाने का फ़ैसला क्यों नहीं लिया जा रहा है? 8500 करोड़ रुपये के दो विशेष जहाज़ प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के लिए ख़रीदे जाने की ऐतिहासिक विलासिता की जगह यह सारी धनराशि लोगों की जान बचाने और चिकित्सा सुविधाओं के विस्तार पर क्यों नहीं ख़र्च की जा रही है?

ऐसे ही दर्ज़नों और सवाल हैं जिन्हें उठाकर एजिटेशन और प्रोपेगैण्डा करने का यह सबसे सही समय है। **इस आपदा के समय में अपनी पूरी शक्ति और क्षमता के साथ जनता की मदद करते हुए हमें उसे लगातार इन मुद्दों पर जागृत और शिक्षित करना होगा। जो काम इस समय हो सकता है वह आम दिनों में उस गति के साथ नहीं हो सकता। आज हम व्यापक क्रान्तिकारी प्रचार के ज़रिए न केवल हत्यारे फ़ासिस्टों को बल्कि पूरी पूँजीवादी व्यवस्था को अधिक सुगम और जीवन्त ढंग से एक्सपोज़ कर सकते हैं और एक वैकल्पिक क्रान्तिकारी ढाँचे के निर्माण के लिए क्रान्तिकारी बदलाव की अपरिहार्यता और व्यावहारिकता पर लोगों को क़ायल कर सकते हैं।**

लेकिन कोविडियट्स इन बुनियादी सवालों को एकदम हाशिए पर धकेल कर अपनी 'मिथ्या चेतना' को जनता पर आरोपित कर रहे हैं, अजीबोग़रीब ख़याली पुलाव पका रहे हैं, 'नॉन इश्यूज़' को 'इश्यू' बना रहे हैं, कुछ ग़लत और कुछ संकीर्ण दायरे की सुधारवादी माँगों पर प्रचार और आन्दोलन की नौटंकी कर रहे हैं, 'हँसिए के ब्याह में खुरपी का गीत' गा रहे हैं, तथा फ़ासिस्टों और पूँजीवादी व्यवस्था के सामान्य जनविरोधी चरित्र की चर्चा करते हुए, दिन के उजाले की तरह सामने आ चुकी उनके बर्बर रक्तपिपासु चरित्र की वीभत्स नग्नता की ओर से लोगों का ध्यान भटका रहे हैं।

अगर यह सिर्फ़ मूर्खता है, तब भी एक ऐतिहासिक क्षतिकारी परिघटना है। अगर यह एक हठी मूर्खता है (क्योंकि बार-बार इंगित करने पर भी तथ्यों और तर्कों की अनदेखी और अश्लील कुतर्क करती रही है) तो सिर्फ़ दुर्योधनी व्यक्तिवादी अहम्मन्यता ही नहीं है, बल्कि परले दर्जे की बेईमानी तक जा पहुँची ख़तरनाक राजनीतिक प्रवृत्ति है। वस्तुगत अवसरवाद से मनोगत अवसरवाद, मनोगत अवसरवाद से बेईमानी और बेईमानी से पतन के नरककुण्ड तक का सफ़रनामा इतिहास के पन्नों पर इसी तरह पहले भी दर्ज होता रहा है। इसी तरह इतिहास में त्रासदी के रूप में घटित घटनाएँ प्रहसन के रूप में, और फिर बेहद अश्लील-फूहड़ प्रहसन के रूप में अपने को दुहराती हैं!

पाँच राज्यों में सम्पन्न चुनावों के नतीजे और सर्वहारा वर्गीय नज़रिया

(पेज 13 से आगे)

रथ को रोकने के लिए कांग्रेस से गठबन्धन कर रही थीं और दूसरे तरफ़ केरल में कांग्रेस के ख़िलाफ़ चुनाव के मैदान में थीं! मानो वहाँ फ़ासीवाद के अग्रवर्ती अभियान को रोकना इनके लिए ज़रूरी नहीं था! यह भी कभी नहीं भूलना चाहिए कि जनसंघ के रूप में भाजपा को मुख्यधारा में लाने का पाप और मज़दूर आन्दोलन से ऐतिहासिक विश्वासघात करके उसे अर्थवाद और संसदवाद के गड्ढे में गिराने का अपराध भी इन संसदीय बातबहादुरों के मत्थे ही है। इसलिए इनकी स्थिति भी कम हास्यास्पद नहीं है। बंगाल में तो पहले इनका बड़ा जनाधार खिसककर भाजपा के पास चला गया था, जो रही-सही कसर थी वह इस बार पूरी हो गयी जब तृणमूल कांग्रेस ने भी इनके पुराने पारम्परिक इलाक़ों में सेंध लगायी।

अन्त में सबसे महत्वपूर्ण बात तो यही समझने की है कि उक्त राज्यों में चाहे कोई पार्टी जीती हो या कोई हारी हो इससे उन राज्यों की आम मेहनतकश जनता के जीवन में कोई वास्तविक बदलाव नहीं आने वाला है। तमाम रंगों-झण्डों की पार्टियाँ पूँजीवादी व्यवस्था की ही पैरोकार हैं, इसकी हिफ़ाज़त में लगी हुई हैं और पूँजी-परस्त, मज़दूर-मेहनतकश विरोधी लुटेरी नीतियों को अंजाम तक पहुँचाने में जुटी हुई हैं। यह तथ्य इस बात से ही पुष्ट हो जाता है कि तमाम पूँजीवादी दलों को, चाहे वह भाजपा हो, कांग्रेस हो, तृणमूल कांग्रेस हो, द्रमुक-अन्नाद्रमुक हो या फिर संशोधनवादी भाकपा-माकपा ही क्यों न हो, इन सभी को बड़े पूँजीपति घरानों से लेकर छोटे पूँजीपति, धनी किसानों व फ़ार्मरों, व्यापारियों, बिल्डरों, डीलरों के वर्गों से करोड़ों-करोड़ रुपये हर साल चन्दे में मिलते हैं। अगर इस बार के विधानसभा चुनाव की बात करें तो हम पाते हैं कि बंगाल में कुल प्रत्याशियों में से 18 फ़ीसदी करोड़पति थे, असम में 27.9 फ़ीसदी उम्मीदवार करोड़पति थे, तमिलनाडु में 18.3 फ़ीसदी उम्मीदवार करोड़पति थे, वहीं पुदुचेरी में यह संख्या 23 फ़ीसदी थी। क्या इन पार्टियों और इनके प्रत्याशियों से मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकशों के हितों की नुमाइन्दगी की उम्मीद भी की जा सकती है? बिल्कुल नहीं!

इसके साथ ही, यदि कहीं फ़ासीवादी भाजपा और इसकी सहयोगी पार्टियों की हार हुई भी है तो वह जनता को एक तात्कालिक अल्पकालिक राहत प्रतीत हो सकती है लेकिन फ़ासीवाद का संकट किसी भी रूप में इससे टल नहीं सकता है। इसलिए चुनाव परिणामों से उत्साहित होने की बजाय जनपक्षधर ताक़तों और विशेष तौर पर सर्वहारा वर्गीय क्रान्तिकारी ताक़तों को जनता के सही राजनीतिक विकल्प को खड़ा करने की तरफ़ ग़ौर करना चाहिए। संसदीय राजनीति में क्रान्तिकारी हस्तक्षेप करते हुए भी जनता के बीच संसदीय राजनीति के माध्यम से सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में आमूल-चूल परिवर्तन किये जा सकने के विभ्रम को अधिकाधिक बेपर्द करते जाना चाहिए। और यह तभी सम्भव है जब मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता अपने स्वतंत्र राजनीतिक पक्ष के माध्यम से संसदीय चुनावों में रणकौशलात्मक भागीदारी करे और इसकी सीमाओं को व्यवहार में प्रदर्शित करे। मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक लेनिन के शब्दों में ऐतिहासिक दृष्टि से अप्रासंगिक संसदवाद को राजनीतिक दृष्टि से अप्रासंगिक व्यवहार में ही सिद्ध किया जा सकता है। मेहनतकश जनता की असल मुक्ति तभी सम्भव हो सकती है जब उत्पादन और राजकाज पर मेहनतकश वर्गों का ही क़ब्ज़ा हो और निर्णय लेने की ताक़त उसी के पास हो। भारत में यह चीज़ नयी समाजवादी क्रान्ति के द्वारा ही फलीभूत हो सकती है। कहना नहीं होगा कि चार राज्यों और एक केन्द्र शासित प्रदेश के चुनाव परिणामों ने मेहनतकश जनता के सामने अपना सही राजनीतिक विकल्प खड़ा करने की ज़रूरत को ही पुनः रेखांकित किया है।

इन्साफ़पसन्द लोगों को इज़रायल का विरोध और फ़िलिस्तीन का समर्थन क्यों करना चाहिए

हम इन्साफ़पसन्द लोगों से मुख़ातिब हैं। जो लोग न्याय और अन्याय के बीच की लड़ाई में ताक़त के हिसाब से या समाज और मीडिया में प्रचलित धारणाओं के अुनसार अपना पक्ष चुनते हैं वे इसे न पढ़ें। आज जब दुनियाभर में लोग कोरोना महामारी से जूझ रहे हैं और हमारे देश में हुक्मरानों के निकम्मेपन की वजह से हम अपने देश के भीतर एक नरसंहार के गवाह बन रहे हैं, वहीं इस महामारी के बीच हज़ारों मील दूर ग़ाज़ा में ज़ायनवादी इज़रायल एक बार फिर मानवता के इतिहास के सबसे बर्बर क़िस्म के नरसंहार को अंजाम दे रहा है। इस वीभत्स नरसंहार पर ख़ामोश रहकर या दोनो पक्षों को बराबर का ज़िम्मेदार ठहराकर हम इसे बढ़ावा देने का काम करेंगे।

जो लोग इज़रायल और फ़िलिस्तीन के विवाद के इतिहास को ढंग से नहीं जानते वही लोग दोनों पक्षों को बराबर का ज़िम्मेदार ठहराकर दोनों से हिंसा छोड़ने का आग्रह करते हैं। अगर वो संजीदगी से इतिहास पढ़ते तो पाते कि 1948 में इज़रायल नामक राष्ट्र का जन्म ही फ़िलिस्तीनियों की ज़मीन पर क़ब्ज़ा करके, उनको उनकी ही ज़मीन से बेदख़ल करके और बड़े पैमान पर क़त्लेआम को अंजाम देकर हुआ था। उसके बाद से क़ब्ज़े, बेदख़ली और क़त्लेआम का यह सिलसिला आज तक बदस्तूर जारी है। आज फ़िलिस्तीन के लोग वेस्ट बैंक और ग़ाज़ा के दो छोटे-से हिस्सों में समेट दिये गये हैं और इज़रायल वहाँ भी उन्हें अमन और आज़ादी से नहीं रहने देता है। तमाम अन्तरराष्ट्रीय क़ानूनों को धता बताकर इज़रायल वेस्ट बैंक में यहूदियों की अवैध बस्तियाँ बसा रहा है। वहाँ चप्पे-चप्पे पर फ़ौजी चेकपोस्ट मौजूद हैं जहाँ इज़रायली फ़ौजी फ़िलिस्तीन के लोगों से उनके अपने ही देश में अपराधियों जैसा सलूक़ करते हैं। वेस्ट बैंक में ही इज़रायल ने एक नस्लभेदी दीवार बनायी है जो फ़िलिस्तीन के खेतों से होकर गुज़रती है और जिसकी वजह से लोगों का जीवनयापन और एक जगह से दूसरी जगह आनाजाना दुश्वार हो गया है। ग़ाज़ा तो आज दुनिया की सबसे बड़ी और सबसे घुटनभरी जेल से कम नहीं है। उसकी ज़मीन और समुद्र सभी ओर से इज़रायल ने घेरेबन्दी कर रखी है और खाने-पीने व दवा जैसी अत्यावश्यक चीज़ों की भारी क़िल्लत है। वहाँ उपलब्ध 95 फ़ीसदी पानी पीने योग्य नहीं रह गया है।

ऐसे मानवीय संकट के बीच कोरोना महामारी ने फ़िलिस्तीन के लोगों की मुश्किलों को पहले से भी बढ़ा दिया था। वेस्ट बैंक व ग़ाज़ा में पहले से लचर चिकित्सा व्यवस्था पूरी तरह से चरमरा चुकी है और आर्थिक संकट की वजह से लोगों के काम-धन्धे चौपट हो गये हैं। साम्राज्यवादी मीडिया में इज़रायल द्वारा अपने सभी नागरिकों को वैक्सीन देकर सुरक्षित करने की ख़ूब वाहवाही हुई, लेकिन इस मानवद्रोही हरक़त की ख़बर नहीं आयी कि ज़रूरत से ज़्यादा वैक्सीन उत्पादन के बावजूद इज़रायल ने फ़िलिस्तीनी लोगों को वैक्सीन देने की बजाय अन्य देशों को निर्यात किया। इस संकटकालीन स्थिति में इज़रायल ने ग़ाज़ा पर बमबारी करके अपने ख़ूँख़ार मानवद्रोही चरित्र को एकबार फिर उजागर किया है।

जो लोग इस हमले के लिए हमास द्वारा दागे गये रॉकेट को ज़िम्मेदार मान रहे हैं उन्हें पता होना चाहिए कि फ़िलिस्तीन के लोगों के पास कोई फ़ौज, नौसेना या वायुसेना नहीं है। ऐसे में उनके पास जो कुछ है उसी से लड़ रहे हैं। अपनी क़ौम को नेस्तनाबूद होने से बचाने की इस लड़ाई में फ़िलिस्तीनियों का बच्चा-बच्चा शामिल है। वो पत्थर से लड़ रहे हैं, गुलेल से लड़ रहे हैं, कविता-कैमरे से लड़ रहे हैं और रॉकेट से भी लड़ रहे हैं। डेविड और गोलियथ के बीच जारी इस जंग में वे दुनियाभर के इन्साफ़पसन्द लोगों का आह्वान भी कर रहे हैं कि वे ताक़तवर का नहीं बल्कि इन्साफ़ का पक्ष चुनें। हमास की विचारधारा से इत्तेफ़ाक़ न रहते हुए भी अपनी क़ौम पर हो रहे बर्बर हमले की जवाबी कार्रवाई करने के उनके हक़ की मुख़ालफ़त आप भला क्यों करेंगे? अगर किसी की ज़मीन पर कोई बाहर से आकर क़ब्ज़ा कर ले और मारकाट मचाये तो क्या आप उस व्यक्ति को यह नैतिक उपदेश देंगे कि वह चुपचाप शान्तिपूर्वक सबकुछ सह ले?

बहुत से लोग इस समस्या को मज़हब के चश्मे से देखते हुए इस्लाम बनाम यहूदी समस्या के रूप में प्रस्तुत करते हैं और उसके आधार पर इज़रायल या फ़िलिस्तीन का पक्ष चुनते हैं। ऐसे लोग अगर फ़िलिस्तीन का समर्थन भी करते हैं तो वह वस्तुत: उनकी लड़ाई को कमज़ोर करने का ही काम करते हैं। अगर वाक़ई यह मज़हबों की जंग होती तो अरब जगत के इस्लामी देशों के हुक्मरान भला फ़िलिस्तीन के साथ क्यों नहीं आते? सऊदी अरब, जहाँ इस्लाम की पुण्यभूमि मक्का स्थित है, इज़रायल और अमेरिका का सबसे दुलारा दोस्त क्यों है? अगर आप थोड़ी देर के लिए मज़हब का चश्मा उतारकर इस समस्या को समझने की कोशिश करेंगे तो पायेंगे कि इस समस्या के तार मध्यपूर्व में अमेरिकी साम्राज्यवादी दख़ल से जुड़े हैं। तेल व गैस जैसे अमूल्य संसाधनों वाले इस भूराजनीतिक रूप से अहम इलाक़े में इज़रायल अमेरिकी साम्राज्यवाद के हितों को साधने का काम करता आया है। यही वजह है कि रिपब्लिकन और डेमोक्रैट दोनों पार्टियों के नेता इज़रायल का खुलकर समर्थन करते हैं और उसकी फ़ौजी ताक़त बढ़ाने के लिए हर साल अरबों डॉलर का सहयोग भेजते हैं।

हम भारत के लोगों ने उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ आज़ादी की लड़ाई लड़कर विदेशी ग़ुलामी से अपनी आज़ादी पायी। ऐसे में हम आज इतिहास की सबसे बर्बर फ़ौजी और सेटलर उपनिवेशी ताक़त द्वारा ढाये जा रहे अकथनीय ज़ुल्म पर भला ख़ामोश कैसे रह सकते हैं? हमारे हुक्मरानों ने तो फ़िलिस्तीनियों के जायज़ संघर्ष से मुँह मोड़कर इज़रायल के साथ गलबहियाँ करने का फ़ैसला किया है। उनका तो समझा जा सकता है क्योंकि उनका ज़ायनवाद से (और मज़े की बात है कि हिटलरी फ़ासीवाद से भी) बिरादाराना नाता है। हत्यारों-नरसंहारकों के बीच की एकता तो सहज समझ में आती है। लेकिन भारत के आम लोगों को तो फ़िलिस्तीनियों के पक्ष में आवाज़ उठानी ही चाहिए और इज़रायलियों द्वारा मानवता के ख़िलाफ़ किये जा रहे अपराध का पर्दाफ़ाश करना ही चाहिए। इन्सानियत और इन्साफ़ का तकाज़ा तो यही है।

– आनन्द

तमाम तिलचट्टे, छछून्दर और चूहे बदहवास क्यों भाग रहे हैं इधर-उधर?

– कविता कृष्णपल्लवी

कोविशील्ड वैक्सीन बनाने वाली कम्पनी का मालिक अदार पूनावाला लन्दन भाग गया। वह कह रहा है कि भारत में उसकी जान को ख़तरा था। अब वह यूरोप में ही वैक्सीन बनाने की बात कर रहा है। पूनावाला को सरकार ने वैक्सीन बनाने के लिए सारे सरकारी नियमों में ढील देकर 3000 करोड़ रुपये का अनुदान दिया था और कहा था कि यह वैक्सीन जनता को मुफ़्त दी जायेगी। अब पूनावाला इसे सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रतिष्ठानों को 400 रुपये और निजी अस्पतालों को 600 रुपये में बेच रहा था। अब वह भाग गया और सरकारी ख़ज़ाने के तीस अरब रुपये पचा गया। दरअसल यह वैक्सीन घोटाला और कोरोना-प्रबन्धन घोटाला (पी एम केयर फ़ण्ड, वेण्टिलेटर और जीवन रक्षक दवाओं और आक्सीजन आदि के इन्तज़ाम और कालाबाज़ारी सहित) भी रफ़ाएल जैसा ही एक एक भयंकर घोटाला है, एक नरसंहारी घोटाला है। इन्तज़ार कीजिए, कहीं एक दिन सरकार से 1500 करोड़ का अनुदान लेने वाला, कोवैक्सीन बनाने वाली कम्पनी भारत बायोटेक का मालिक भी रफ़ूचक्कर न हो जाये!

अबतक मोदी शासनकाल में सरकारी बैंकों के खरबों-खरब रुपये लेकर उनका भट्ठा बैठाकर विदेश भाग जाने वाले पूँजीपतियों की संख्या पचास पार कर चुकी है। वह आदमी मासूम नहीं बागड़-बकलोल ही होगा जो यह सोचता है कि यह सब बिना मोदी-शाह एण्ड कं. के मिलीभगत के हो रहा है!

वैसे घोटाले करके स्थायी तौर पर विदेश जा बसने वाले ठग थैलीशाहों के अतिरिक्त भी इन दिनों भारत के शीर्षस्थ धनपशु बड़े पैमाने पर सपरिवार विदेश चले गये हैं, या अपने परिवारों को स्थायी या अस्थायी तौर पर वहाँ शिफ़्ट कर दिया है। सुनने में आया है कि मुकेश अम्बानी भी फ़िलहाल सपरिवार ब्रिटेन चले गये हैं। जिस दिन ब्रिटेन भारत से अपनी उड़ानों पर रोक लगाने वाला था (फिर वह तारीख़ कुछ आगे टाल दी) उस दिन के शुरू होने के ऐन पहले लन्दन के हवाई अड्डे पर आठ बड़े प्राइवेट जेट भारत के शीर्ष अरबपतियों-खरबपतियों के परिवारों को लेकर उतरे! भारत से उड़ानें बन्द होने से पहले के दिनों तक अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, ब्रिटेन, इटली, जर्मनी और दूसरे यूरोपीय देशों का रुख़ करने वाले 'सुपर-रिच' कुनबों का ताँता लगा रहा। जिन अमीरों ने आबू धाबी, दुबई से लेकर दूरस्थ टापुओं तक पर आरामगाह बना रखे हैं, उन्होंने अपने परिवारों को वहाँ भेज दिया है।

आख़िर ये सभी छछून्दर, तिलचट्टे, चूहे और कनखजूरे इतने बदहवास होकर इधर-उधर भाग क्यों रहे हैं? ये सभी परजीवी जोंकें इतना किलबिल-किलबिल क्यों कर रही हैं? माना कि महामारी के इस क़दर फैलाव से तमाम सर्वोत्तम स्वास्थ्य सुविधाओं और अपने अतिसुरक्षित महलों और ऐशगाहों में दुबके रहने के बावजूद, इन कबूतरदिल शोषकों-लुटेरों को भी अपने और अपने परिजनों के प्राणों का भय सताने लगा है। लेकिन मुख्य बात यह नहीं है! पूँजीपति सबसे अधिक जनता के सड़कों पर उतरने की आशंका से भयाक्रान्त रहते हैं। आज जिस तरह देशभर में लोग महामारी से भी अधिक स्वास्थ्य सुविधाओं के भीषण अभाव और सरकारी आपराधिक लापरवाही के चलते सड़कों पर मर रहे हैं, उस स्थिति में जनाक्रोश का ज्वालामुखी कभी अचानक भी भड़क सकता है और सड़कों पर बहता पिघला हुआ लावा ऐश्वर्य-द्वीपों पर जगमगाते धनकुबेरों के महलों को भी अपनी चपेट में ले सकता है। यह भय एक सहज वर्ग-बोध के नाते सभी शोषकों-लुटेरों को हमेशा सताता रहता है जो शस्त्रसज्जित राज्यसत्ता और दिमाग़ों को अनुकूलित करने वाले प्रचार-तंत्र और सांस्कृतिक तंत्र की नशे की ख़ुराक़ की बदौलत जनसमुदाय को उजरती ग़ुलाम बनाये रखते हैं और उनकी नस-नस से ख़ून चूसते रहते हैं! आज भारत के सरमायेदारों को किसी हद तक इस डर और आशंका ने भी ज़रूर घेर रखा है। बदहवास तो मोदी और शाह भी हैं, लेकिन वे बेक़रारी से इन्तज़ार कर रहे हैं कि किसी तरह से कोरोना की प्रचण्डता थोड़ी उतार पर आये तो फिर से सीएए-एनआरसी, काशी-मथुरा और राम मन्दिर निर्माण को हवा देकर एक बार फिर से साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण करके जनता को बाँट दें और साम्प्रदायिक उन्माद की लहर में सबकुछ को डुबो दें!

लेकिन पूँजीपति फिर भी संकट की स्थिति में जनज्वार के भय से मुक्त नहीं हो पाते और एहतियातन सुरक्षा के ज़रूरी इन्तज़ामात के लिए भाग-दौड़ करने लगते हैं। लुटेरे शासक, उनके सिद्धान्तकार-सलाहकार और नीति-निर्माता भी इस बात को समझते हैं कि क्रान्ति अभी सम्भव नहीं है क्योंकि कोई आमूलगामी सामाजिक क्रान्ति एक एकीकृत, परिपक्व क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व के बिना नहीं हो सकती। लेकिन इतिहास ने शासक वर्गों को भी यह सिखाया है कि कई बार स्वयंस्फूर्त जन-उभारों और जन-विद्रोहों के दौरों में ऐसे बोल्शेविक टाइप क्रान्तिकारी केन्द्र के निर्माण की प्रक्रिया बहुत तेज़ हो जाती है और कई दशकों का काम चन्द वर्षों में होने की ज़मीन तैयार हो जाती है। लेकिन इस बात को छोड़ भी दें तो यह एक आम सच्चाई है कि पूँजीपति देशव्यापी जन-उभारों और जन-विद्रोहों से भी अत्यधिक भयाक्रान्त रहते हैं क्योंकि, क्रान्ति भले न हो, लेकिन "जनता के आतंक" का क़हर तो ऐसे दौरों में अमीरों के एक बड़े हिस्से को भुगतना ही पड़ जाता है। उदाहरण पचासों हैं, सिर्फ़ एक की याद दिला दूँ। हैती में तानाशाह दुबालियर के महाभ्रष्ट और महादमनकारी शासन के अन्तिम दिनों में जब जनता सेना-पुलिस की गोलियों के भय से मुक्त होकर सड़कों पर उतर पड़ी तो सड़कों पर जहाँ कहीं भी महँगी अमेरिकी कार में कोई अमीरज़ादा दीख जाता था, उसे खींचकर उसके गले में लोग जलता हुआ टायर डाल देते थे और गाड़ी को भी वहीं फूँक देते थे। हज़ारों की तादाद में इकट्ठे होकर लोग अमीरों के विला, बंगलों और फ़ार्म हाउसों पर धावा बोल देते थे।

ऐतिहासिक त्रासद विडम्बना अगर यह हो कि पूँजीवादी संकट गम्भीर हो और क्रान्ति की मनोगत शक्तियाँ क्रान्तिकारी समाधान दे पाने की स्थिति में न हों तो पूँजीवादी संकट का धुर-दक्षिणपन्थी समाधान कई बार फ़ासिज़्म के रूप में सामने आता है। लेकिन तबसे लेकर क्रान्ति तक, इतिहास रुका नहीं रहता है, लोग बस पीठ झुकाए ग़ुलामों की तरह जीते नहीं रहते हैं। कई बार फ़ासिस्ट शासकों, तानाशाहों और निरंकुश बुर्जुआ सत्ताओं के ख़िलाफ़ स्वयंस्फूर्त उग्र जन-उभार और जन-विद्रोह भी सड़कों पर फूट पड़ते हैं। उनकी आशंका मात्र से सभी परजीवी, भ्रष्ट अमीरों की पैण्टें सिर्फ़ सोने में ही नहीं, दिन में जागते हुए भी गीली होती रहती हैं।

मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक और नेता कार्ल मार्क्स के जन्मदिवस (5 मई) के अवसर पर

अपने-अपने मार्क्स

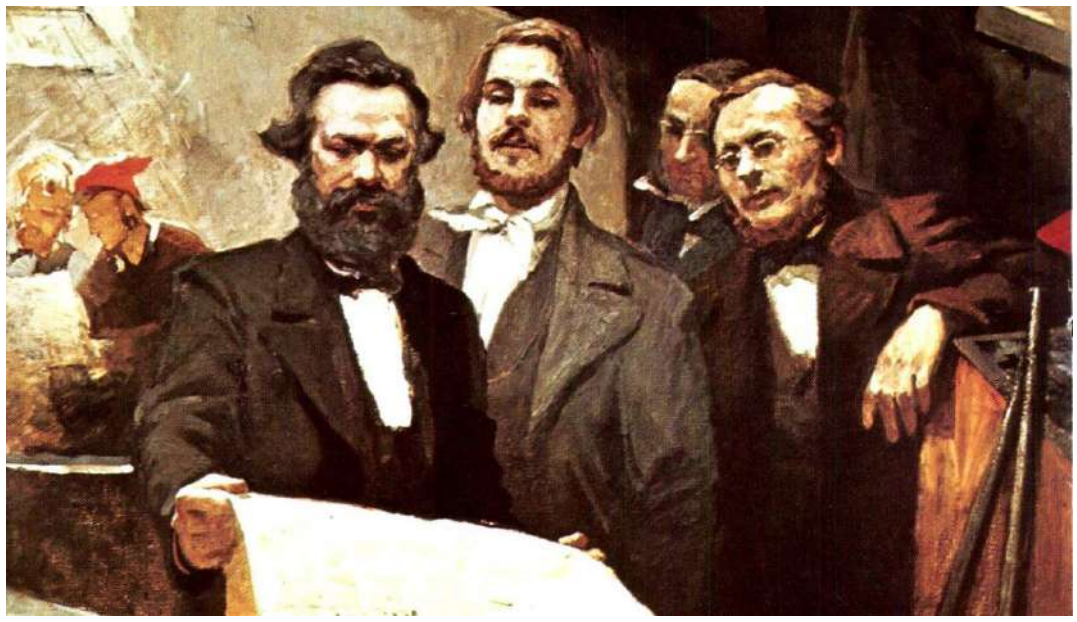

– कविता कृष्णपल्लवी

हर साल की तरह इस साल भी कार्ल मार्क्स के 203वें जन्मदिवस के अवसर पर बहुत सारे बुर्जुआ लिबरल्स, सोशल डेमोक्रेट्स और संसदीय जड़वामन वामपन्थियों ने भी उन्हें बहुत याद किया और भावभीनी श्रद्धांजलियाँ दीं। इन सबके अपने-अपने मार्क्स हैं जो वास्तविक मार्क्स से एकदम अलग हैं। इनमें से कोई मार्क्स को मानवता के इतिहास के महानतम दार्शनिकों में शुमार करता है, कोई महान मानवतावादी के रूप में उनकी प्रशंसा करता है, कोई पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली का सर्वश्रेष्ठ विश्लेषण करने वाला महान अर्थशास्त्री बताता है और कोई वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों को प्रस्तुत करने वाला महान चिन्तक बताता है। ये सभी लोग जिस बात की अनदेखी करते हैं, या जिसपर ज़ोर नहीं देते; वह वो बात है जो कार्ल मार्क्स की समाधि पर दिये गये अपने भाषण में उनके अनन्य मित्र, सह-चिन्तक और सह-योद्धा फ्रेडरिक एंगेल्स ने कही थी, "मार्क्स सर्वोपरि तौर पर एक क्रान्तिकारी थे। जीवन में उनका असली उद्देश्य किसी न किसी तरह पूँजीवादी समाज और उससे पैदा होने वाली राजकीय संस्थाओं के ध्वंस में योगदान करना था, आधुनिक सर्वहारा वर्ग को मुक्त करने में योग देना था, जिसे सबसे पहले उन्होंने ही अपनी स्थिति और आवश्यकताओं के प्रति सचेत किया और बताया कि किन परिस्थितियों में उसकी मुक्ति हो सकती है। संघर्ष करना उनका सहज गुण था। और उन्होंने ऐसे जोश, ऐसी लगन और सफलता के साथ संघर्ष किया जिसका कोई मुक़ाबला नहीं है।"

ज़ाहिर है कि मार्क्स दुनिया के ज्ञात इतिहास को प्रभावित करने वाले सबसे बड़े दार्शनिक थे, पर वे ऐसा इसलिए थे क्योंकि उनके लिए दर्शन की एकमात्र सार्थकता दुनिया को बदलने और उसे न्यायपूर्ण बनाने में थी। अपने विचार और कर्म की यात्रा की शुरुआत में ही उन्होंने कहा था, "दार्शनिकों ने दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है, लेकिन सवाल उसको बदलने का है।" इसीलिए एंगेल्स ने कहा था, और माओ ने भी इस बात को दुहराया था कि 'मार्क्सवाद कर्मों का मार्गदर्शक सिद्धान्त है, कोई कठमुल्ला-सूत्र नहीं।'

मार्क्स बेशक एक महान मानवतावादी थे, क्योंकि वे रिनेसाँ के महान विचारकों के वारिस थे! वे वास्तविक अर्थों में, प्रबोधनकालीन दार्शनिकों द्वारा निरूपित अर्थों में, एक जनवादी थे। पर वे मात्र इतना ही नहीं थे। वे काल्पनिक समाजवादियों से आगे बढ़कर समाजवाद का वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति थे। इन अर्थों में वे न केवल मानवतावाद और जनवाद के शिखर थे, बल्कि उसे आगे समाजवाद तक विस्तारित करने वाले व्यक्ति थे। मार्क्स केवल समाजवाद का सिद्धान्त ही प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति नहीं थे, उन्होंने यह भी बताया कि समाजवाद की राज्यसत्ता का स्वरूप केवल और केवल सर्वहारा अधिनायकत्व का ही हो सकता है और पेरिस कम्यून का समाहार करते हुए उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि सर्वहारा वर्ग राज्य की बनी-बनायी मशीनरी पर क़ब्ज़ा करके समाजवाद का अपना लक्ष्य हासिल नहीं कर सकता, बल्कि बुर्जुआ राज्य-मशीनरी का बलात ध्वंस करके अपनी नयी राज्य-मशीनरी का निर्माण उसके लिए अपरिहार्य होगा। उनके इसी चिंतन के सूत्र को लेनिन ने, विशेषकर अपनी 'राज्य और क्रान्ति' पुस्तक में आगे विस्तार दिया, पर कुछ अटकलपच्चू "ज्ञानी" और शरारती बुर्जुआ अकादमीशियन और कूपमण्डूक समाजवादी अक्सर यह कहते पाये जाते हैं कि क्रान्ति की लेनिनवादी अवधारणा मार्क्स के चिंतन का विरूपण या विकृतीकरण है। इसी तरह ऐसे मूर्ख या शरारती लोग यह भी कहते हैं कि पार्टी की लेनिनवादी अवधारणा मार्क्स की सोच के विपरीत है, जबकि राज्यसत्ता के बलात ध्वंस के लिए सर्वहारा वर्ग के अगुवा दस्तों के जुझारू संगठन पर मार्क्स और एंगेल्स ने हमेशा बल दिया था और जीवनपर्यन्त सर्वहारा वर्ग को इसी लाइन पर संगठित करने की कोशिश की थी। लेनिन ने सर्वहारा की हरावल पार्टी की संरचना और कार्यप्रणाली का निरूपण करते हुए मार्क्स और एंगेल्स की सोच को ही आगे विकसित किया था।

मार्क्स बेशक आधुनिक युग के महानतम अर्थशास्त्री थे, पर पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों के हर पहलू को रेशा-रेशा खोलकर समझने की उनकी कोशिश का एकमात्र उद्देश्य यह था कि उन उत्पादन-सम्बन्धों का ध्वंस करके नये, समाजवादी उत्पादन-सम्बन्धों का निर्माण किया जाये और यह काम उन्हें सांगोपांग समझे बिना नहीं किया जा सकता था।

'शान्तिपूर्ण संक्रमण' और संसदीय मार्ग के सिद्धान्त का काउत्स्कीपन्थी-ख्रुश्चेवपन्थी फटा लाल गमछा लपेटकर चुनावी गटरगंगा में डुबकी मारकर बुर्जुआ संसद के "पवित्र मन्दिर" में घुसकर सत्ता की देवी की कापालिक साधना करने वाले संसदीय वामपन्थी जड़वामन क्रान्ति के बारे में मार्क्स की स्थापनाओं की चर्चा नहीं करते। बुर्जुआ मानवतावादी मार्क्स की एक विकृत-भोंडी मूर्ति बनाकर उन्हें अपने आराध्यों में शुमार कर लेना चाहते हैं। सोशल डेमोक्रेट्स और बुर्जुआ लिबरल्स मार्क्स को एक सोशल डेमोक्रेट या बुर्जुआ लिबरल बना देना चाहते हैं तथा अकादमीशियन मार्क्स को एक महान चिन्तक बुद्धिजीवी के रूप में चित्रित करने की कोशिश करते हैं। बात ठीक भी है। अगर कौव्वा किसी ईश्वर की कल्पना करता होगा तो कौव्वा के रूप में ही करता होगा और सूअर के ज़ेहन में अपने ईश्वर की छवि एक सूअर की ही बनती होगी।

लेनिन ने एक बार कहा था कि अधिकांश क्रान्तिकारियों की मृत्यु के बाद शासक वर्ग और उसके बौद्धिक चाकर उनके सिद्धान्तों को तोड़-मरोड़कर दन्त-नखहीन बना देते हैं और फिर उन क्रान्तिकारियों को अपना मसीहा घोषित कर देते हैं।

कुछ बेहद प्रासंगिक उद्धरण

तमाम क़िस्म के अवसरवादी, लोककल्याणवादी और सुधारवादी, जिनकी राजनीति मार्क्सवाद के ठीक विपरीत है, जिस उत्साह के साथ मार्क्स के जन्मदिवस पर उनका गुणगान कर रहे हैं, उसे देखकर लेनिन के शब्द याद आते हैं जिनसे उन्होंने 'राज्य और क्रान्ति' की शुरुआत की थी :

"उत्पीड़क वर्गों ने महान क्रान्तिकारियों को उनके पूरे जीवन-काल में लगातार यातनाएँ दीं, उनकी शिक्षा का अधिक से अधिक बर्बर द्वेष, अधिक से अधिक क्रोधोन्मत्त घृणा तथा झूठ बोलने और बदनाम करने की अधिक से अधिक अन्धाधुन्ध मुहिम द्वारा स्वागत किया। लेकिन उनकी मौत के बाद उनकी क्रान्तिकारी शिक्षा को सारहीन करके, उसकी क्रान्तिकारी धार को कुन्द करके, उसे भ्रष्ट करके उत्पीड़ित वर्गों को "बहलाने" तथा धोखा देने के लिए उन्हें अहानिकर देव-प्रतिमाओं का रूप देने, यों कहें, उन्हें देवत्व प्रदान करने और उनके नामों को निश्चित गौरव प्रदान करने के प्रयत्न किये जाते हैं। मार्क्सवाद को इस तरह "संसाधित करने" में बुर्जुआ वर्ग और मज़दूर आन्दोलन के अवसरवादियों के बीच आज सहमति है। उस शिक्षा के क्रान्तिकारी पहलू को, उसकी क्रान्तिकारी आत्मा को भुला दिया जाता है, मिटा दिया जाता है, विकृत कर दिया जाता है। उस चीज़ को सामने लाया जाता है, गौरवान्वित किया जाता है, जो बुर्जुआ वर्ग को मान्य है या मान्य प्रतीत होती है। सभी सामाजिक-अन्धराष्ट्रवादी अब "मार्क्सवादी" बन गये हैं (हँसिए नहीं)।"

– प्रस्तुति : बिपिन बालाराम

अपने साहस, दृढ़निश्चय और आत्म-बलिदान के दम पर मज़दूर ही जीत हासिल करने के लिए मुख्य तौर पर ज़िम्मेदार होंगे। निम्न-पूँजीपति वर्ग (मध्य वर्ग - अनु.) जब तक सम्भव हो तब तक हिचकिचाएगा और भयभीत, ढुलमुल और निष्क्रिय बना रहेगा; लेकिन जब जीत सुनिश्चित हो जायेगी तो यह उस पर अपना दावा करेगा और मज़दूरों से क़ायदे से पेश आने के लिए कहेगा, और सर्वहारा वर्ग को वह जीत के फलों से वंचित कर देगा। ...बुर्जुआ जनवादियों के शासन में, शुरू से ही, इसके विनाश के बीज छिपे होंगे, और अन्ततोगत्वा सर्वहारा द्वारा इसे प्रतिस्थापित कर दिया जाना आसान बना दिया जायेगा।

– कार्ल मार्क्स, 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष' से

इस कम्युनिस्ट चेतना के बड़े पैमाने पर उत्पादन, और ...बड़े पैमाने पर मनुष्यों के रूपान्तरण दोनों के लिए, ...क्रान्ति आवश्यक है; और इसी वजह के लिए, यह क्रान्ति महज़ इसलिए आवश्यक नहीं है क्योंकि शासक वर्ग को किसी अन्य तरीक़े से उखाड़ फेंकना सम्भव नहीं, बल्कि इसलिए भी क्योंकि उसे उखाड़ फेंकने वाला वर्ग केवल क्रान्ति में ही अपने आप को सदियों की तमाम गन्दगी से मुक्त कर सकता है और नये समाज की नींव रखने के लिए तैयार हो सकता है।

– कार्ल मार्क्स, 'जर्मन विचारधारा' (1845)

नाज़ी-विरोधी योद्धा सोफ़ी शोल की 100वीं जन्मतिथि के अवसर पर

सोफ़ी और उसके बहादुर साथियों की शहादत दुनिया भर में फ़ासीवाद के विरुद्ध लड़ने वालों को प्रेरित करती रहेगी!

– सत्यम

हिटलर और उसके नाज़ी शासन ने लाखों यहूदियों को तो मौत के घाट उतारा ही था, उसके बर्बर शासन के विरुद्ध लड़ने वाले, किसी भी रूप में उसका विरोध करने वाले 77 हज़ार अन्य जर्मन नागरिकों की भी हत्या की थी। इन नाज़ी-विरोधी योद्धाओं को फ़ौजी अदालतों और तथाकथित 'जन न्यायालयों' में मुक़दमे के नाटक के बाद गोली से उड़ा दिया गया या मध्ययुगीन बर्बर गिलोतीन से गर्दन काटकर मौत की सज़ा दी गयी। इन्हीं में से एक नाम था सोफ़ी शोल का जिसे 22 साल की उम्र में गिलोतीन से मार दिया दिया। उसके साथ उसके भाई हान्स शोल और साथी क्रिस्टोफ़ प्रोब्स्ट को भी गिलोतीन पर चढ़ा दिया गया।

आज वह हिटलर के ख़िलाफ़ खड़ी होने का साहस दिखाने और अपनी जान से उसकी क़ीमत चुकाने वाली युवती के रूप में जर्मनी की सबसे लोकप्रिय नायिकाओं में से एक है। उस पर कई फ़िल्में बनी हैं, दर्जनों किताबें लिखी गयी हैं, बहुत से नाटकों और असंख्य कविताओं, पेंटिंग्स, म्यूराल और पोस्टरों में उसकी स्मृति अमर हो चुकी है। उसका नाम फ़ासिस्टों के ख़िलाफ़ अदम्य साहस के साथ उठ खड़े होने का प्रतीक बन चुका है।

सोफ़ी के पिता दक्षिण-पश्चिम जर्मनी के फ़ोर्खटेनबर्ग शहर के मेयर थे पर बाद में उसका परिवार ऊल्म शहर में बस गया था। अपने पाँच भाई-बहनों के साथ सोफ़ी जब किशोरावस्था में थी तब तक हिटलर और नाज़ी पार्टी का जर्मनी पर क़ब्ज़ा हो चुका था। शुरू में सोफ़ी और बड़ा भाई हान्स हिटलर की नेशनल सोशलिस्ट पार्टी के समर्थक थे। बहुत से जर्मन नौजवानों की तरह वे भी पार्टी के हिटलर यूथ मूवमेण्ट और लीग ऑफ़ जर्मन गर्ल्स से जुड़ गये।

उसके पिता हिटलर के कट्टर विरोधी थे और अपने बच्चों में नाज़ियों के प्रति इस उत्साह से उन्हें गहरा धक्का लगा था। लेकिन धीरे-धीरे परिवार और दोस्तों की बातों का सोफ़ी और हान्स पर असर होने लगा। परिवार में सीखे उदारवादी मूल्यों के साथ थर्ड राइख़ की राजनीति का मेल बैठाना उनके लिए मुश्किल होता गया। उनके यहूदी परिचितों और कलाकारों के साथ होने वाले बरताव को देखकर भी उन्हें धक्का लगा और जिस समय तक हिटलर ने पोलैण्ड पर हमला किया, तब तक वे उसके विरोधी बन चुके थे। जर्मन नौजवानों को फ़ौज में भरती कर लड़ने के लिए भेजा जाने लगा। सोफ़ी ने अपने प्रेमी फ़्रिट्ज़ को, जो ख़ुद मोर्चे पर भेजा गया था, भेजे ख़त में लिखा : "मैं समझ नहीं पाती कि कैसे कुछ लोग दूसरों की ज़िन्दगी से खिलवाड़ करते हैं। मैं इसे कभी समझ नहीं पाऊँगी, ये भयानक है। मुझे मत समझाओ कि यह सब पितृभूमि के लिए किया जाता है।"

हान्स म्यूनिख विश्वविद्यालय में चिकित्सा की पढ़ाई करने चला गया। उसने और उसके दो अन्य दोस्तों ने पूर्वी मोर्चे पर सोवियत संघ में जर्मन सेना के फ़ौजी अस्पताल में काम करते हुए युद्ध की विभीषिका को अपनी आँखों से देखा था और उन्हें पोलैण्ड और सोवियत संघ में जर्मन फ़ौजों द्वारा यहूदियों और दूसरे नागरिकों के जनसंहार के बारे में भी पता चला था। फ़ौज से लौटने पर हान्स और उसके दोस्तों ने युद्ध और नाज़ीवाद के विरुद्ध जर्मन जनता को जागरूक करने का संकल्प लिया। सोफ़ी ने भी म्यूनिख विश्वविद्यालय में दाख़िला ले लिया। जल्द ही उनके दोस्तों का एक ग्रुप बन गया जिन्हें कला, संस्कृति और दर्शन के सवालों में साझा दिलचस्पी एक-दूसरे से जोड़ती थी। सोफ़ी जीवविज्ञान की छात्रा थी और बढ़िया पियानो बजाने के साथ ही एक प्रतिभाशाली पेण्टर भी थी।

लेकिन उस हिंसक दौर में इन बातों के लिए समय नहीं था जब करोड़ों लोग जीवन-मृत्यु के संघर्ष में जूझ रहे थे। उनके ग्रुप के कुछ विद्यार्थी सेना में रह चुके थे, वे एक मानवद्रोही शासन में जी रहे थे, और वे प्रतिरोध करने के लिए कृतसंकल्प थे।

हान्स शोल और उसके दोस्त अलेक्ज़ेण्डर श्मोरेल ने प्रतिरोध को संगठित रूप देने के लिए "व्हाइट रोज़" ग्रुप बनाया। सोफ़ी, क्रिस्टोफ़ प्रोब्स्ट और विली ग्राफ़ के अलावा, उनके एक प्रोफ़ेसर कुर्ट ह्यूबर भी इसमें शामिल हो गये। यही छह लोग 'व्हाइट रोज़' ग्रुप था जिसने नाज़ियों को इतना भयाक्रान्त कर दिया था कि एक-एक को ढूँढ़कर मार दिया गया।

जून 1942 में उन्होंने पर्चे छापकर और दीवारों पर नारे लिखकर अपना काम शुरू किया। दोस्तों और समर्थकों के नेटवर्क की मदद से वे पर्चे छापते और तरह-तरह के ख़ुफ़िया तरीक़ों से उन्हें बाँटते थे। पर्चों में जर्मन लोगों से नाज़ी सत्ता का प्रतिरोध करने का आह्वान किया जाता था, यहूदियों के ख़िलाफ़ फैलाई जा रही नफ़रत और उनकी हत्याओं की निन्दा की जाती थी और युद्ध ख़त्म करने की माँग उठाई जाती थी। वे घरों में छिपाकर रखी हाथ से चलने वाली साइक्लोस्टाइल मशीन पर पर्चे छापते थे और लिफ़ाफ़ों में रखकर डाक से म्यूनिख और उसके आस-पास के इलाक़ों में छात्रों, शिक्षकों और बुद्धिजीवियों को भेजते थे, पब्लिक टेलीफ़ोन बूथ की डायरेक्ट्री में और ऐसी अन्य जगहों पर रख देते थे।

एक पर्चे में लिखा गया था, "हम ख़ामोश नहीं रहेंगे। हम तुम्हारे ज़मीर की आवाज़ हैं। व्हाइट रोज़ तुम्हें चैन से जीने नहीं देगा।" जनवरी 1943 में निकाले गये उनके पाँचवे पर्चे 'जर्मन जनता से अपील' की 6 हज़ार प्रतियाँ छापी गयीं और उसे ग्रुप के सदस्यों और समर्थकों

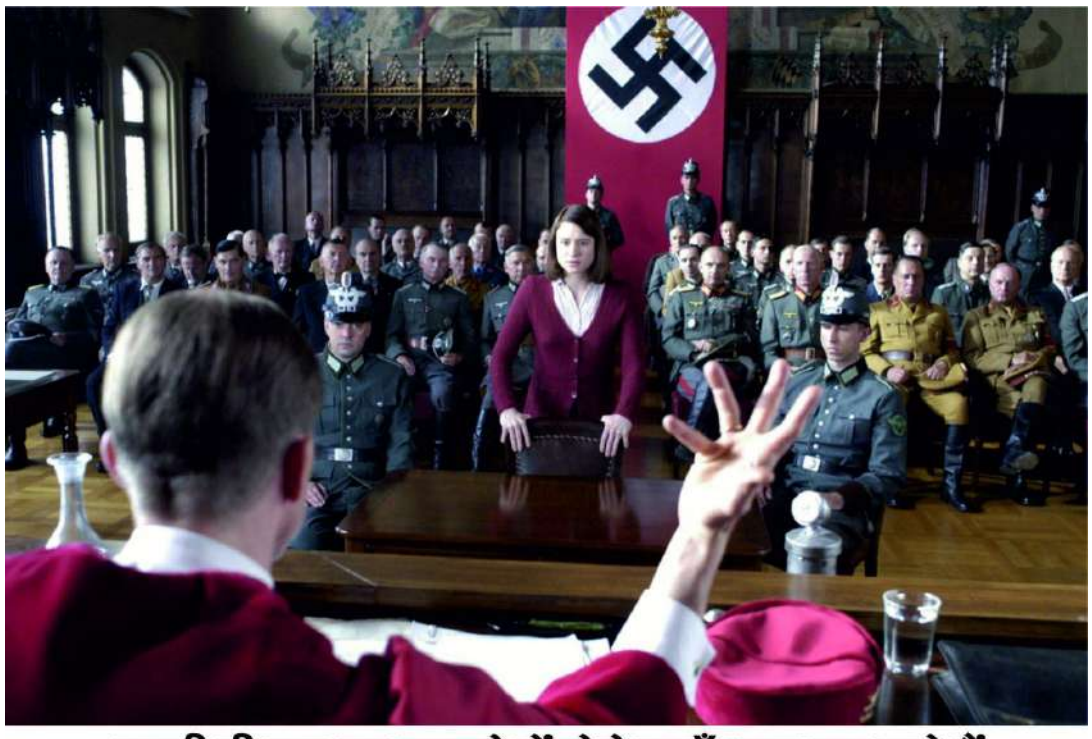

जल्दी ही तुम इस कठघरे में होगे जहाँ आज हम खड़े हैं...

ने म्यूनिख ही नहीं, दक्षिण जर्मनी के कई शहरों में बाँटा। गिरफ़्तारी के बाद गेस्टापो की पूछताछ में सोफ़ी ने बताया था कि 1942 की गर्मियों से ही समूह का मक़सद व्यापक जर्मन जनता तक पहुँचना था, इसलिए इस पर्चे में समूह ने अपना नाम बदलकर 'जर्मन प्रतिरोध आन्दोलन' कर लिया था।

स्तालिनग्राद में जर्मन सेनाओं की बुरी तरह हार की ख़बरों को जर्मन जनता से छिपाया जा रहा था और उन्हें यह विश्वास दिलाया जा रहा था कि जल्द ही हिटलर की अगुवाई में जर्मनी विश्वविजयी होने वाला है। इसी समय उन्होंने अपना छठा पर्चा निकाला जो उनका आख़िरी पर्चा साबित हुआ। इसमें कहा गया था : "हमें स्तालिग्राद के मृतकों की सौगन्ध है।... अगर जर्मन नौजवान उठ खड़े नहीं हुए, एक ही साथ प्रतिशोध और पश्चाताप की भावना के साथ, और हमारी जनता के लिए सबसे घृणित आततायियों को कुचलकर एक नये, शान्तिपूर्ण यूरोप की स्थापना नहीं करते, तो जर्मनी का नाम हमेशा के लिए कलंकित हो जायेगा!" 3, 8 और 15 फ़रवरी को 'व्हाइट रोज़' के सदस्यों ने म्यूनिख विश्वविद्यालय और अन्य इमारतों पर स्टेन्सिल से 'हिटलर मुर्दाबाद' और 'आज़ादी' जैसे नारे भी लिखे।

उनके पास डाक से भेजने के बाद भी काफ़ी पर्चे बच गये थे। लिफ़ाफ़े ख़त्म हो गये थे और काग़ज़ की कमी से और मिलना मुमकिन नहीं था। इसलिए साथियों के मना करने के बावजूद सोफ़ी और हान्स शोल ने 18 फ़रवरी को इन्हें विश्वविद्यालय में बाँटने का फ़ैसला किया। उस दिन सुबह दोनों एक सूटकेस में पर्चे लेकर गये और क्लास के दौरान कमरों के बन्द दरवाज़ों के सामने पर्चे रख दिये। कुछ पर्चे बच जाने पर वे ऊपर की मंज़िल पर इन्हें बाँटने गये। वहाँ एकाएक जोश में आकर बचे हुए थोड़े से पर्चों को सोफ़ी ने नीचे हॉल में उड़ा दिया। वे चुपचाप निकल जाना चाहते थे लेकिन एक कर्मचारी ने उन्हें देख लिया और गेस्टापो ने उन्हें गिरफ़्तार कर लिया। सातवें पर्चे का मज़मून भी उस समय हान्स के पास था जिसे उसने नष्ट करने की कोशिश की लेकिन कामयाब नहीं हुआ, हालाँकि सोफ़ी अपने पास के सारे सबूत नष्ट करने में कामयाब हो गयी। गेस्टापो में इस मामले की तफ़्तीश रॉबर्ट मोर नाम के इन्स्पेक्टर ने की थी और शुरू में उसने सोफ़ी को निर्दोष मानकर रिहा करने का आदेश दिया था। लेकिन हान्स ने अपनी ज़िम्मेदारी क़बूल कर लेने और अन्य सबूत मिलने के बाद सोफ़ी ने भी 'व्हाइट रोज़' के तमाम कामों में भागीदारी क़बूल कर ली और अपने साथियों को बचाने के लिए सारी ज़िम्मेदारी ख़ुद लेने की भी कोशिश की।

22 फ़रवरी 1943 को सोफ़ी और हान्स शोल और क्रिस्टोफ़ प्रोब्स्ट पर नाज़ियों की तथाकथित 'जन अदालत' में मुक़दमा चलाया गया। नाज़ियों के वफ़ादार प्रवक्ता की तरह पेश आने वाले जज फ़्रेसलर की धमकियों के बावजूद सोफ़ी दृढ़ता और वीरता से डटी रही और जवाब दिया, "हमारी तरह तुम भी जानते हो कि युद्ध हारा जा चुका है। लेकिन तुम अपनी कायरता से इसे स्वीकार नहीं करना चाहते।" तीनों को गम्भीर राष्ट्रद्रोह का दोषी घोषित कर जज रोलैण्ड फ़्रेसलर ने मौत की सज़ा सुना दी। सोफ़ी ने शान्ति के साथ कहा, **"जहाँ आज हम खड़े हैं, एक दिन तुम वहीं खड़े होगे!"**

नाज़ी इतना डरे हुए थे कि मृत्युदण्ड की सज़ा पर एक महीने बाद अमल की परम्परा के बावजूद इन तीनों को कुछ ही घण्टों के बाद गिलोतीन पर भेज दिया गया। मरने से ठीक पहले सोफ़ी के आख़िरी शब्द थे : **"हम सच्चाई के विजयी होने की उम्मीद कैसे कर सकते हैं जब किसी सच्चे लक्ष्य के लिए अपने आपको क़ुर्बान करने के लिए कोई तैयार ही नहीं होगा। इतना सुन्दर, धूपभरा दिन है, पर मुझे जाना है। लेकिन मेरी मृत्यु से क्या फ़र्क़ पड़ता है, अगर हमारे ज़रिए हज़ारों लोग जाग जाते हैं और कुछ कर गुज़रने को प्रेरित होते हैं?"**

'व्हाइट रोज़' समूह के अन्य सदस्यों और समर्थकों को भी ढूँढ़-ढूँढ़कर पकड़ा गया और मुक़दमे का नाटक चलाकर कई को मृत्युदण्ड और आजीवन कारावास जैसी सज़ाएँ दी गयीं। जर्मन अख़बारों और रेडियो में इन्हें ग़द्दार और जर्मन राष्ट्र के द्रोहियों के रूप में पेश किया गया लेकिन तब तक देशभर में इनके हज़ारों समर्थक हो चुके थे और इनकी शहादत के बाद इनकी बातें और भी तेज़ी से फैल गयीं।

इनके प्रतिरोध और शहादत की ख़बरें जर्मनी से बाहर भी पहुँच गयीं। सोवियत लाल सेना ने "व्हाइट रोज़" के संघर्ष के सम्मान में जर्मन लोगों में प्रचार के लिए एक पर्चा प्रकशित किया जिसे जर्मन युद्धबन्दियों में, मोर्चों पर और जर्मन जनता के बीच बाँटा गया। उनका अन्तिम पर्चा छिपाकर इंग्लैण्ड पहुँचा दिया गया। 1943 के मध्य में, इस पर्चे को "म्यूनिख के छात्रों का घोषणापत्र" के नाम से प्रकाशित किया गया और मित्र राष्ट्रों के विमानों ने इसकी दसियों लाख प्रतियाँ पूरे जर्मनी पर गिरायीं। सोफ़ी के जीवन पर बनी फ़िल्म 'सोफ़ी शोल: द फ़ाइनल डेज़' आसमान से गिरते पर्चों के इस दृश्य के साथ ही समाप्त होती है।

यह फ़िल्म गेस्टापो और नाज़ी अदालत की फ़ाइलों में इस मामले की पूछताछ और मुक़दमे के रिकॉर्ड के आधार पर सोफ़ी शोल और उसके साथियों द्वारा फ़ासिस्टों के विरुद्ध जर्मन जनता को जगाने के प्रयास की इस शौर्यपूर्ण ऐतिहासिक घटना का चित्रण बहुत सच्चे और प्रेरक ढंग से करती है।

आज़ाद भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति: एक ऐतिहासिक रूपरेखा

– आनन्द सिंह

भारत में आम लोग कोरोना महामारी के पहले से ही अपने अनुभव से भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की ख़स्ताहाल स्थिति से वाक़िफ़ थे। आम आदमी के यहाँ अगर कोई बीमार पड़ जाता है तो वह एक हादसे से कम नहीं होता है। डॉक्टर, अस्पताल और दवाओं के ख़र्च से उसकी कमर टूट जाती है और उसके बाद भी बीमारी दूर होने और नयी बीमारी न पैदा होने की कोई गारण्टी नहीं होती। लेकिन इसके बावजूद कोरोना महामारी के पहले यहाँ के शासकों के गुणगान में लगे बुद्धिजीवी बेशर्मी से ढींगे हाँकते थे और महानगरों में स्थित चन्द सुपर स्पेशैलिटी अस्पतालों के दम पर भारत के विकास की तारीफ़ों के पुल बाँधे जाते थे। लेकिन कोरोना महामारी ने भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की ख़स्ताहाल हालत की पोल खोल दी है। कोरोना की दूसरी लहर में अस्पतालों के भीतर और बाहर के जो ख़ौफ़नाक मंज़र

उत्तर भारत के कई राज्यों में सरकारी अस्पतालों की ऐसी ख़स्ता हालत आम बात है। उदारीकरण के तीन दशकों के दौरान तमाम सरकारी अस्पतालों को धीरे-धीरे खोखला किया गया और पिछले सात सालों के दौरान बिल्कुल तबाही के कगार पर पहुँचा दिया गया है।

देखने में आ रहे हैं उसके बाद शासकों की सेवा में लगे तमाम बुद्धिजीवी भी भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की हालत पर सवाल उठाने पर मजबूर हो गये हैं।

इसमें कोई दो राय नहीं कि कोरोना महामारी की वजह से जिस विनाशकारी हालात के हम गवाह बन रहे हैं उसके लिए नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व वाली भाजपा सरकार द्वारा पिछले 7 सालों में की गयी करतूतें और उसका निकम्मापन सीधे तौर पर ज़िम्मेदार है। लेकिन यह भी सच है कि ये हालात आज़ादी के 7 दशकों के दौरान हुए पूँजीवादी विकास की तार्किक परिणति हैं और इसके लिए केन्द्र और राज्यों में सरकार में रह चुकीं तमाम चुनावी पार्टियाँ और भारत का समूचा पूँजीपति वर्ग ज़िम्मेदार है। इस लेख में हम आज़ादी के बाद से स्वास्थ्य सेवाओं के विकास की ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे और यह देखेंगे कि किस प्रकार आज़ाद भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य तंत्र एक बेहद कमज़ोर नींव पर खड़ा किया गया और बाद में नवउदारवाद के दौर में वह लगातार जर्जर होता गया तथा मोदी सरकार के 7 वर्षों के दौरान अपनायी गयी नीतियों की बदौलत यह तंत्र पूरी तरह से ध्वस्त होने की कगार पर आ गया है।

आज़ाद भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति जानने के लिए हम आज़ादी के बाद के इतिहास को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित कर सकते हैं: पहला, 1947 से 1980 के दशक के अन्त तक का दौर यानी नवउदारवादी नीतियों के लागू होने से पहले का दौर और दूसरा 1990 से अब तक का दौर, यानी नवउदारवाद का दौर। दूसरे दौर में हम मोदी सरकार के पिछले 7 सालों में अपनायी गयी नीतियों का विशेष उल्लेख करेंगे।

नवउदारवाद के पहले का दौर

आज़ादी के बाद सत्ता में आये भारत के पूँजीपति वर्ग की सबसे पहली प्राथमिकता अर्द्ध-सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों को बदलकर पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को स्थापित करना और देश में औद्योगिक विकास की आधारशिला तैयार करना था। चूँकि उस समय भारत का पूँजीपति वर्ग इतना कमज़ोर था कि वह अपने बूते बुनियादी और अवरचनात्मक उद्योगों का तानाबाना खड़ा नहीं कर सकता था इसलिए उसने आम लोगों की बचत का इस्तेमाल करके औद्योगिक विकास की आधारशिला तैयार करने की योजना बनायी। राजकीय पूँजीवाद के इस मॉडल के लिए लोगों की रज़ामन्दी लेने के लिए इसे समाजवाद का नाम दिया गया। लेकिन इस छलावे की पोल इसी से खुल जाती है कि जहाँ समाजवादी देशों ने औद्योगिक विकास और कृषि उत्पादकता में वृद्धि के साथ ही साथ शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे क्षेत्रों को भी शुरू से ही प्राथमिकता में रखा, वहीं भारत में शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे क्षेत्र कभी भी भारतीय शासकों की प्राथमिकता में नहीं रहे। शिक्षा और स्वास्थ्य पर उतना ही ध्यान दिया गया जितना पूँजीवादी विकास की न्यूनतम आवश्यकता थी।

भारत के नवजात पूँजीपति वर्ग और उनके नुमाइन्दों ने स्वास्थ्य जैसे मूलभूत अधिकार को तवज्जो नहीं दी, यह बात भारत का संविधान बनाने वाली संविधान सभा की बहसों से भी स्पष्ट हो जाती है। संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने स्वास्थ्य को मूलभूत अधिकार का दर्जा देने का प्रस्ताव रखा था, परन्तु संविधान सभा का बहुमत इसके ख़िलाफ़ था और इसीलिए संविधान में स्वास्थ्य को मूलमूत अधिकार के अध्याय में नहीं बल्कि राज्य के नीति निर्देशक तत्वों वाले अध्याय में रखा गया।

आज़ादी के ठीक पहले बनी भोरे कमेटी ने राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा की एक विस्तृत योजना तैयार की थी जिसमें पूरी आबादी को नि:शुल्क स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करने का प्रावधान था। परन्तु आज़ादी के बाद इस कमेटी की रिपोर्ट को ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया क्योंकि राज्य की प्राथमिकता में उद्योग, इन्फ्रास्ट्रक्चर, वित्त और रक्षा जैसे क्षेत्र थे।

भारतीय शासकों के लिए यह शर्म की बात है कि 1946 में भोरे कमेटी की रिपोर्ट में प्रति एक लाख की आबादी पर 567 अस्पताल बेड, 62.3 डॉक्टर और 150.8 नर्सों का जो लक्ष्य रखा गया था वह आज तक पूरा नहीं हो पाया है। आज भारत में प्रति एक लाख आबादी पर मात्र 140 अस्पताल बेड, 66.18 डॉक्टर और 149.25 नर्स हैं। ऐसे में यह आश्चर्य की बात नहीं है कि यह स्वास्थ्य तंत्र कोरोना महामारी के सामने भहराकर गिर पड़ा है।

आज़ादी के बाद अस्तित्व में आयी सभी पंचवर्षीय योजनाओं में भी मुख्य ज़ोर आर्थिक विकास सुनिश्चित करने वाले क्षेत्रों पर ही रहा और शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, आवास जैसे क्षेत्रों को परिधि पर ही स्थान मिला। 1950 और 1960 के दशकों में स्वास्थ्य के नाम पर जो निवेश किया भी गया उसका अधिकांश हिस्सा मलेरिया, चेचक, तपेदिक, मिर्गी, फ़ाइलेरिया और हैज़ा जैसी महामारियों पर नियंत्रण पाने में ख़र्च किया गया। उस समय गाँवों से लेकर क़स्बों और शहरों तक स्वास्थ्य केन्द्रों का तानाबाना खड़ा करने की ज़रूरत थी, परन्तु उसपर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

शुरू से ही बजट का बहुत कम हिस्सा स्वास्थ्य को आवण्टिक किया जाता था, लेकिन 1965 के बाद से स्वास्थ्य बजट का आधे से भी ज़्यादा ख़र्च परिवार नियोजन के मद में किया जाने लगा क्योंकि अब स्वास्थ्य के क्षेत्र में सबसे बड़ी प्राथमिकता जनसंख्या नियंत्रण हो गयी थी। इस नयी प्राथमिकता का स्वास्थ्य सेवाओं के विकास पर बहुत नकारात्मक असर पड़ा।

1983 में देश में पहली बार एक राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति बनायी गयी जिसमें सार्वभौमिक, समग्र प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं का लक्ष्य रखा गया। परन्तु इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए आवश्यक तंत्र व निवेश की ग़ैर-मौजूदगी में यह ज़बानी जमाख़र्च ही बनकर रह गया।

इस प्रकार नवउदारवाद के पहले के दौर में स्वास्थ्य सेवाओं की जो नींव तैयार की गयी थी वह बेहद कमज़ोर थी। गाँवों और पिछड़े इलाक़ों में तो स्वास्थ्य सेवाओं की हालत और भी ख़राब थी। अर्थव्यवस्था में राज्य का दख़ल था लेकिन स्वास्थ्य के क्षेत्र में यह दख़ल बहुत सीमित था। उस समय भी देशभर में स्वास्थ्य पर हुए कुल ख़र्च का 70 फ़ीसदी से ज़्यादा लोगों को अपनी जेब से देना पड़ता था। स्वास्थ्य के क्षेत्र में नवउदारवाद से पहले ही निजी क्षेत्र मौजूद था जिसपर सरकार का नियंत्रण सीमित था। हालाँकि उस समय अभी निजी अस्पतालों की अन्धी लूटपाट नहीं शुरू हुई थी और ख़ासकर शहरों के सरकारी अस्पतालों में ग़रीबों और आम आदमी को ठीकठाक इलाज उपलब्ध हो जाता था। दवाओं के मूल्य पर अभी भी सरकार का काफ़ी नियंत्रण रहता था, पेटेण्ट क़ानूनों की ग़ैर-मौजूदगी में तमाम जेनेरिक दवाएँ सस्ते दामों पर मिल जाती थीं।

नवउदारवाद का दौर

वैसे तो भारत में स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में निजी क्षेत्र आज़ादी के बाद से ही मौजूद रहा है, परन्तु 1990 के बाद शुरू हुए नवउदारवादी दौर में निजी क्षेत्र का दख़ल कई गुना बढ़ गया है। नवउदारवाद के पिछले तीन दशकों के दौरान गाँवों से लेकर क़स्बों और शहरों तक निजी अस्पतालों का एक विराट तंत्र खड़ा हुआ है जिसका एकमात्र मक़सद लोगों की बीमारियों का लाभ उठाकर ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा पीटना है। इस दौर में अस्पतालों के साथ ही प्राइवेट क्लिनिक, पैथोलॉजी, फ़ार्मेसी आदि का भी एक तानाबना खड़ा हुआ है जो लोगों की बदहाली की क़ीमत पर फलफूल रहा है। विडम्बना तो यह है कि स्वास्थ्य सेवाओं के नाम पर लोगों को लूट रही इन संस्थाओं को जनता के पैसे से सब्सिडी दी जाती है। मेडिकल की पढ़ाई के नाम पर मुनाफ़ा पीट रहे तमाम निजी मेडिकल कॉलेजों को भी जनता की गाढ़ी कमाई से सब्सिडी दी जाती है। दवा और वैक्सीन बनाने वाली तमाम कम्पनियों को भी कारख़ाना लगाने के लिए सरकार सब्सिडी देती है। मिसाल के लिए कोरोना की वैक्सीन बनाने वाली कम्पनियों सीरम इंस्टीट्यूट और भारत बायोटेक को भी भारत सरकार करोड़ों रुपये की सब्सिडी दे चुकी है। लेकिन इसके बावजूद ये निजी संस्थान संकट की स्थिति में जनता के साथ कोई मुरव्वत नहीं दिखाते हैं। एक अनुमान के मुताबिक़ इस समय भारत में स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान कर रही संस्थाओं में दो-तिहाई निजी हाथों में हैं।

निजीकरण की यह प्रक्रिया नवउदारवाद के दौर की अहम विशेषता है। इसके अतिरिक्त इस दौर में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में भी मरीज़ द्वारा किये जा रहे भुगतान की राशि में ज़बर्दस्त बढ़ोत्तरी हुई है। यानी सरकारी अस्पतालों में भी अब लोगों को पहले की तुलना में बहुत ज़्यादा भुगतान करना पड़ता है क्योंकि इस दौर में सरकार द्वारा दी जा रही सब्सिडी में भयंकर कटौती हुई है।

नवउदारवादी दौर की एक अन्य विशेषता स्वास्थ्य सेवा तंत्र का विकेन्द्रीकरण है। इसके तहत केन्द्र सरकार स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करने की ज़िम्मेदारी से पल्ला झाड़कर ये ज़िम्मेदारी जिला प्रशासन या उससे भी नीचे के स्तर के प्रशासन को सौंप रही है। कहने को तो यह स्वास्थ्य सेवाओं को स्थानीय परिस्थितियों के प्रति संवेदनशील और सहभागितापूर्ण बनाने के लिए किया जा रहा है, परन्तु इसकी परिणति स्वास्थ्य सेवाओं के बिखराव के रूप में हो रही है क्योंकि स्थानीय प्रशासनिक निकायों के पास पर्याप्त संसाधनों का अभाव है।

नवउदारवाद के दौर में स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में आये बदलावों की एक अहम विशेषता राज्य द्वारा स्वास्थ्य सेवाओं में की गयी लगातार कटौती रही है। इस पूरे दौर में स्वास्थ्य पर किया जाने वाला ख़र्च सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के 1 प्रतिशत के आसपास ही रहा है जबकि इसे कम से कम जीडीपी के 3 प्रतिशत के आसपास होना चाहिए।

इसके अलावा नवउदारवाद के दौर में स्वास्थ्य के क्षेत्र में निजी बीमा कम्पनियों की पैठ भी लगातार बढ़ती गयी है। लोगों के डर और असुरक्षा की भावना का लाभ उठाकर अकूत मुनाफ़ा कमाने का यह उद्योग नवउदाररवादी दौर में ख़ूब फलफूल रहा है। लेकिन विडम्बना यह है कि जहाँ एक ओर बीमा कम्पनियों का मुनाफ़ा बढ़ता गया वहीं दूसरी ओर

(पेज 19 पर जारी)

राजधानी दिल्ली की बेहतर स्वास्थ्य सुविधाओं के दावे और हक़ीक़त

– योगेश स्वामी

कोरोना महामारी ने हमारे देश की स्वास्थ्य व्यवस्था के साथ ही देश की राजधानी दिल्ली की "विश्वस्तरीय स्वास्थ्य सुविधाओं" के केजरीवाल सरकार के दावे की भी पोल खोल दी। हमारे देश में पिछले साल आयी कोरोना महामारी के समय भी दिल्ली के सरकारी अस्पतालों के इन्तज़ाम बेहतर नहीं थे, पर अब आयी कोरोना की दूसरी लहर ने दिल्ली के सरकारी अस्पतालों के ख़स्ता हालात को और भी उजागर कर दिया है। यह रिपोर्ट लिखे जाने तक (9 मई 2021) दिल्ली में कोरोना की दूसरी लहर के दौरान 19,071 लोगों की मौतें हो चुकी थीं, संक्रमित लोगों की संख्या 87,907 थी और प्रतिदिन औसतन 20,000 लोग संक्रमित दर्ज किये जा रहे थे।

दिल्ली के सरकारी व निजी अस्पतालों में ख़ाली बेडों की संख्या बताने के लिए दिल्ली सरकार द्वारा दिल्ली कोरोना ऐप पिछले साल ही शुरू किया गया था। यह दावा किया गया कि अब मरीज़ों के परिजनों को परेशान होने की ज़रूरत नहीं। इस ऐप के माध्यम से आपको पता चल जायेगा कि किस सरकारी या निजी अस्पताल में बेड ख़ाली है, जिससे आप वहाँ जा सकेंगे। पहली बात तो यह कि एक बहुत बड़ी मेहनतकश आबादी के पास स्मार्टफ़ोन की सुविधा नहीं है, और सरकार के पास उन तक सुलभ ढंग से सूचना पहुँचाने का और कोई साधन नहीं है। दूसरी अहम बात दिल्ली की आम मेहनतकश आबादी दिल्ली के महँगे निजी अस्पतालों का ख़र्च उठा ही नहीं सकती, और न ही दिल्ली सरकार के पास इस बाबत कोई योजना ही है, इसलिए उनके लिए निजी अस्पतालों में बेड ख़ाली होने का भी कोई मतलब नहीं है। हालाँकि इस ऐप पर मिलने वाली जानकारी अधिकतर बार ग़लत ही निकली। ऐप में दिये अस्पतालों के फ़ोन बन्द रहते या मिलते ही नहीं थे, ऐप पर अस्पताल में बेड ख़ाली दिखता, किन्तु जब आप अस्पताल पहुँचते तो पता चलता था कि कोई बेड ख़ाली नहीं है यानी अब किसी दूसरे अस्पताल में जाओ। इतना समय आने और जाने में लगने से मरीज़ की तबियत बिगड़ने सम्भावना बढ़ जाती है। यह सच है कि देश सहित दिल्ली में भी कई मौतें समय से अस्पताल में भर्ती न हो पाने के कारण हो रही हैं। दिल्ली में कोरोना से हो रही मौतों में सरकारी आँकड़ों में हेर-फेर करने की भी ख़बरें सामने आयी हैं। कई मीडिया ख़बरों से पता चला कि दिल्ली में जितनी मौतें एक दिन में सरकार बता रही है, उससे कई ज़्यादा शव कोरोना प्रोटोकॉल के तहत जलाये या दफ़नाये जा रहे थे। लोगों से बातचीत में पता चला कि उनके परिजन कोरोना से संक्रमित थे, जिसकी वजह से उनकी मृत्यु हुई, किन्तु मृत्यु प्रमाणपत्र पर मौत की वजह किसी अन्य बीमारी को बताया गया था। हालात इतने बदतर हैं कि कई नये शवदाह गृह ख़ाली मैदानों में बनाने पड़े। दिल्ली के एक इलाक़े में जानवरों के शवदाह गृह को भी कोरोना से मरे लोगों के लिए प्रयोग किया जाने लगा। साथ ही यह भी देखा गया कि घरों पर कोरोना से हो रही मौतों का कोई आँकड़ा रखा ही नहीं जा रहा है। दिल्ली में कोरोना जाँच केन्द्रों के हालात भी ख़राब ही दिखे। हरेक जाँच केन्द्र पर बहुत भीड़ रहती है, जहाँ भौतिक दूरी का कोई मतलब नहीं होता है। जाँच केन्द्रों पर स्थिति ऐसी है कि अगर कोई पहले से संक्रमित नहीं है तो, इसकी पूरी गुंजाईश है कि वह जाँच केन्द्र पर संक्रमण का शिकार हो जाये। दूसरा जाँच पड़ताल में कई जाँच केन्द्रों पर पता चला कि सरकार ने तय किया है कि मात्र 50 ही आरटी पीसीआर टैस्ट किये जायेंगे। लोग सुबह से क़तारबद्ध होकर अपनी जाँच की बारी का इन्तज़ार करते हैं फिर उन्हें पता चलता है कि आज वे जाँच नहीं करा पायेंगे।

कुछ जगहों पर अस्पताल के बाहर वैन द्वारा रैपिड एण्टीजन टेस्ट तथा आरटीपीसीआर टेस्ट के लिए नमूने लिये जा रहे हैं। किन्तु इन वाहनों की बारम्बारता तथा कोई समय निश्चित नहीं है, और न ही इनके बारे में जानकारी प्राप्त करने का कोई साधन है, लोग जाँच कराने के इन्तज़ार में मारे-मारे फिरते हैं। कुछ जगह रिपोर्टें भी 8 से 10 दिन में मिल रही थीं।

हालिया कुछ रिपोर्टों से यह पता चला है कि दिल्ली में अब प्रतिदिन होने वाले कोरोना टैस्ट की संख्या भी घटा दी गयी है, और साथ ही इन जाँचों की विश्वसनीयता भी सवालों के घेरे में है। कई रिपोर्ट्स ऐसी भी आयी हैं जिसमें मरीज़ों को कोविड नेगेटिव बताया गया, किन्तु उनमें बीमारी के सारे लक्षण मौजूद थे, कुछ मामलों में जान तक भी गयी है। केजरीवाल दावा करते हैं कि उनकी सरकार बनने के बाद से दिल्ली के लोगों को विश्वस्तरीय स्वास्थ्य सुविधाएँ मिल रही हैं। उनका यह दावा तब फुस्स हो गया जब पहले दिल्ली स्वास्थ्य मंत्री सत्येन्द्र जैन और अभी हाल में ही उनकी पत्नी सुनिता केजरीवाल कोरोना पीड़ित हुईं इन "हाई-प्रोफ़ाइल" मरीज़ों का इलाज किसी सरकारी अस्पताल में नहीं कराया गया, बल्कि इन्हें दिल्ली के महँगे निजी अस्पताल मैक्स में दाख़िल कराया गया। सत्येन्द्र जैन पहले चार दिन दिल्ली के एक सरकारी अस्पताल में रहे, फिर वहाँ की सुविधाओं में कमी का हवाला देते हुए मैक्स अस्पताल में दाख़िल हो गये। लेकिन केजरीवाल सरकार द्वारा सरकारी अस्पताल में भर्ती किसी एक भी आम मेहनतकश आदमी को किसी स्थिति में निजी अस्पताल में भर्ती नहीं कराया गया। हमारे देश में कोरोना को आये एक साल से ज़्यादा हो गया पर न ही फ़ासीवादी मोदी सरकार और न ही केजरीवाल सरकार ने भी इस बीते साल में कोरोना से बचने के लिए कोई ठोस तैयारी की। हाँ, बस कोरोना के सन्दर्भ में बड़ी-बड़ी डींगे हाँकते रहे, जैसे पिछले साल हर प्रेस वार्ता में यह कहना कि हम कोरोना से चार क़दम आगे चल रहे हैं, पिछले दिनों यह दावा करना कि दिल्ली में न तो बेड की कमी है और न ही ऑक्सीजन की आदि। जबकि हकीक़त यह है कि दिल्ली में केजरीवाल की सरकार को बने लगभग सात साल हो गये पर उनकी सरकार में एक भी नया अस्पताल नहीं बनाया गया है। यह भी सच है पूरे देश की तरह दिल्ली में अधिकतर मौतें ऑक्सीजन की कमी से ही हो रही हैं, दिल्ली में ऑक्सीजन की कमी को लेकर केन्द्र सरकार और दिल्ली सरकार का तू नंगा-तू नंगा का खेल चल रहा जिसका ख़ामियाज़ा दिल्ली की आम जनता को उठाना पड़ रहा है।

दिल्ली में अब तक हुई हज़ारों मौतों के लिए ज़िम्मेदार कोरोना महामारी ही नहीं बल्कि लचर सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था भी ज़िम्मेदार है। अधिकांश ज़िन्दगियाँ बचायी जा सकती थीं, किन्तु नहीं बचायी जा सकीं। मोदी और केजरीवाल सरकार की यह बेशर्मी भी दिखी कि वैसे दिल्ली पर अपने अधिकारों को आगे रखने की होड़ दिखाने वाली इन दोनों ही सरकारों ने इस महामारी में आम जनता के लिए कोई बेहतर इन्तज़ाम नहीं किया। जहाँ देश स्तर पर फ़ासीवादी मोदी सरकार ने कोरोना महामारी में लोगों को मरने के लिए छोड़ दिया, वहीं दिल्ली में भी केजरीवाल के राज में ग़रीब आदमी कोरोना महामारी या लॉकडाउन में काम बन्द होने के चलते भूख से मरने को मजबूर है।

आज़ाद भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति: एक ऐतिहासिक रूपरेखा

(पेज 18 से आगे)

आम आदमी का जीवन पहले से भी ज़्यादा असुरक्षित होता जा रहा है।

नवउदारवादी दौर की एक अन्य विशेषता दवा की क़ीमतों पर से सरकार का घटता नियंत्रण रही है। 1994 में आये 'ड्रग प्राइस कण्ट्रोल ऑर्डर' के तहत अधिकांश दवाओं की क़ीमत पर सरकारी नियंत्रण हटा दिया गया। विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ) के 'ट्रेड रिलेटेड इण्टेलेक्चुअल प्रॉपर्टी राइट्स' के आने के बाद भारत सरकार ने भी 1970 के 'पेटेण्ट एक्ट' में 2005 में संशोधन कर दिया। 2005 से पहले पुराने एक्ट के चलते भारत में सस्ती जेनेरिक दवाओं के उत्पादन में कुछ हद तक छूट थी जो किसी हद तक देश की ग़रीब जनता को सस्ती दवाएँ मुहैया कराने में मददगार था। परन्तु 2005 के बाद दवा का बाज़ार देशी-विदेशी दवा कम्पनियों द्वारा मुनाफ़ा पीटने के लिए पूरी तरह से खोल दिया गया। यही वजह है कि अब दवा की क़ीमतें आकाश छू रही हैं।

मोदी राज में स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति

उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण को बढ़ावा देने वाली नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत कांग्रेस की सरकार ने की थी, लेकिन इन नीतियों को सबसे ज़्यादा नंगे रूप में लागू करने का काम 2014 में सत्ता में आयी मोदी सरकार ने किया जिसका एक नतीजा स्वास्थ्य सेवाओं के तंत्र की हालत बद से बदतर होने के रूप में सामने आया। इसमें ताज्जुब की बात नहीं है क्योंकि ये वही प्रधानमंत्री है जो अम्बानी के अस्पताल का बेशर्मी से उद्घाटन करते हुए कहता है कि भारत में प्राचीन काल से ही प्लास्टिक सर्जरी होती थी, जिसका प्रमाण गणेश के रूप में हमें मिलता है। ये वही प्रधानमंत्री है जो देशभर में ताली-थाली और दिया-मोमबत्ती जलाने से कोरोना भगाने का दम्भ भरता है।

वर्ष 2014 में सत्ता में आने के बाद मोदी सरकार ने 2014, 2015 और 2016 के बजट में स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय पहल नहीं की और इस दौरान स्वास्थ्य बजट में कोई विचारणीय बढ़ोत्तरी नहीं की। 2017 में बजट में सरकार ने काला-अज़ार और फ़ाइलेरिया को एक वर्ष के भीतर और मिर्गी को 2018 के अन्त तक ख़त्म करने का लक्ष्य रखा। परन्तु ये लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। 2017 में स्वास्थ्य नीति लायी गयी जिसमें सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को मज़बूत बनाने की बजाय स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में निजीकरण को और तेज़ करने पर ज़ोर दिया गया।

2019 में होने वाले लोकसभा चुनावों के मद्देनज़र मोदी सरकार ने 2018 के बजट में गाजे-बाजे के साथ आयुष्मान भारत योजना शुरू करने की घोषणा की और यह दावा किया कि इससे 50 करोड़ भारतीय लाभान्वित होंगे। लेकिन स्वास्थ्य बीमा पर आधारित यह स्कीम भी जनता के पैसे को सार्वजनिक स्वास्थ्य के मूलभूत ढाँचे को मज़बूत बनाने की बजाय निजी क्षेत्र को मुनाफ़ा कमाने के लिए दिया गया तोहफ़ा ही साबित हो रही है। ग़रीबों और मज़दूरों को तो इसका कोई ख़ास लाभ नहीं हो रहा है। यह इसी तथ्य से साबित हो जाता है कि कोरोना काल में जब ऐसी स्कीम के तहत किये जाने वाले दावों में बढ़ोत्तरी होनी चाहिए थी, उस समय इसमें गिरावट देखने को मिल रही है। यही नहीं इस स्कीम में बड़े पैमाने पर धाँधली की ख़बरें भी आ रही हैं जो यह दिखाती हैं कि इसके असली लाभार्थी सरकारी अफ़सर-बाबू और निजी अस्पतालों के मालिक हैं।

पिछले साल कोरोना महामारी के प्रकोप के बावजूद मोदी सरकार ने निजी अस्पतालों की अन्धाधुन्ध लूट और लचर सार्वजनिक स्वास्थ्य तंत्र को चुस्त-दुरुस्त करने के लिए कोई उल्लेखनीय पहल नहीं की। एक ओर महज़ चार घण्टे के नोटिस पर थोपे गये लॉकडाउन ने मज़दूरों के सामने अस्तित्व का संकट खड़ा कर दिया वहीं दूसरी ओर इस समय का इस्तेमाल सार्वजनिक स्वास्थ्य तंत्र को चुस्त–दुस्त करने में न करने की वजह से आज स्थिति ये हो गयी है कि कोरोना की दूसरी लहर में लोग अस्पताल बेड, ऑक्सीजन, आईसीयू, वेण्टिलेटर और जीवनरक्षक दवाओं के लिए दर-दर भटकने को मजबूर हो रहे हैं। यही नहीं सरकार ने स्वास्थ्य तंत्र में बदलाव करने की कोई उल्लेखनीय पहल करने में नाकामी को ढँकने के लिए इस साल के बजट में आँकड़ों की हेराफेरी के ज़रिए यह दिखाने की हास्यास्पद कोशिश की कि सरकार ने स्वास्थ्य बजट में 137 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी कर दी है। यह सच्चाई सामने आने में ज़्यादा समय नहीं लगा कि सरकार ने वैक्सीन पर किये गये ख़र्च और अन्य कुछ मदों के ख़र्च को स्वास्थ्य सेवाओं के बजट में जोड़कर यह बढ़ोत्तरी दिखायी थी।

पिछले साल के अन्त में कोरोना की पहली लहर के ढलान के समय ही विशेषज्ञों ने दूसरी लहर के आने की चेतावनी दे दी थी, परन्तु मोदी सरकार ऐसी आपदा की स्थिति के लिए स्वास्थ्य सेवाओं को तैयार करने और सभी नागरिकों को वैक्सीन लगवाने की विस्तृत योजना बनाने की बजाय अपनी फ़र्ज़ी उपलब्धियों का ढिंढोरा पीटने में व्यस्त थी। तमाम चेतावनियों को धता बताते हुए सरकार ने कुम्भ मेले और विशाल चुनावी रैलियों को बदस्तूर जारी रखने का फ़ैसला किया। सरकार के इस अवैज्ञानिक, अहंकारपूर्ण और आपराधिक अति-आत्मविश्वास का नतीजा इस देश की जनता को भुगतना पड़ रहा है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि आज देश में स्वास्थ्य सेवाओं के पूरे तंत्र के ढह जाने पर जो हाहाकार मचा है उसके लिए आज़ादी के बाद से सत्ता में आयीं तमाम सरकारों द्वारा सार्वजनिक स्वास्थ्य को प्राथमिकता में न रखना, नवउदारवाद के युग में अन्धाधुन्ध निजीकरण को बढ़ावा देना और ख़ास तौर पर मोदी सरकार के सात वर्षों के कार्यकाल में निजीकरण की रफ़्तार तेज़ करना व कोरोना महामारी से निपटने के लिए पर्याप्त तैयारी न करने का आपराधिक कृत्य ज़िम्मेदार है। इसकी जड़ में मुनाफ़े पर टिका पूँजीवादी तंत्र है जो इन्सानों की तबाही और बदहाली की क़ीमत पर भी मुनाफ़ा कमाने का कोई मौक़ा नहीं चूकता। जब तक यह पूँजीवादी तंत्र इस देश में रहेगा तब तक एक ख़ुशहाल भविष्य की कल्पना करना बेमानी होगा। कोरोना महामारी की वजह से यह निर्मम यथार्थ नंगे रूप में सबके सामने आ गया है।

कोरोना महामारी ने खोली पूँजीवादी चिकित्सा-व्यवस्था की पोल

आज मनुष्यता को समाजवादी चिकित्सा व्यवस्था की ज़रूरत है!

– आनन्द

चीन की एक दन्तकथा के अनुसार, 2000 ईसापूर्व के आसपास वहाँ शासन कर रहे 'पीत सम्राट' के दरबारी वैद्य ने बीमारियों के इलाज के विषय में कहा था, "बीमारी फैलने के बाद दवा पर काम करना ठीक वैसा ही है जैसे प्यास लगने के बाद कुआँ खोदना या फिर युद्ध शुरू होने के बाद हथियार तैयार करना।" लेकिन आज कोरोना महामारी के दौर में हम हर ओर यही होता हुआ देख रहे हैं।

चीन के इतिहास में 1949 में हुई नवजनवादी क्रान्ति के बाद के तीन दशकों तक का ही दौर ऐसा दौर कहा जा सकता है, जब बीमारियों की रोकथाम पर उपरोक्त उक्ति के उलट उचित ज़ोर दिया गया और सारी जनता को स्वास्थ्य सुविधाएँ मुहैया कराने को प्राथमिकता दी गयी। आज जब पूरे विश्व में पूँजीवादी चिकित्सा व्यवस्था कोरोना महामारी के सामने लाचार नज़र आ रही है तो चीन के क्रान्तिकारी दौर की समाजवादी चिकित्सा व्यवस्था के बारे में जानना ज़रूरी है। यह अफ़सोस की बात है कि आज चीन अपनी उस क्रान्तिकारी विरासत से कोसों दूर जा चुका है, जिसके तमाम विनाशकारी दुष्परिणामों में एक यह भी है कि आज का चीन कोविड-19 की सही समय पर शिनाख़्त करके उसे क़ाबू में नहीं कर सका और उसे एक विश्वव्यापी महामारी में तब्दील होने से रोक नहीं सका।

"बाज़ार समाजवाद" के दौर में चीन के पूँजीवादी शासकों ने माओकालीन चीन में चिकित्सा के क्षेत्र में किये गये शानदार प्रयोगों को मिट्टी में मिलाते हुए चिकित्सा क्षेत्र और दवा उद्योग के बाज़ारीकरण को बढ़ावा दिया। परन्तु अब भी वहाँ चिकित्सा व्यवस्था का बड़ा हिस्सा सरकार के नियंत्रण में है और साथ ही समाजवादी अतीत की वजह से चीन के लोगों में अब भी स्वास्थ्य को लेकर सजगता की संस्कृति पूरी तरह ख़त्म नहीं हो गयी है। इन वजहों से चीन देर से ही सही परन्तु कोविड-19 को वुहान शहर से बाहर फैलने से रोकने में सफल रहा। लेकिन इस बीच यह बीमारी दुनिया के अन्य हिस्सों में फैल चुकी थी और तमाम विकसित पूँजीवादी देशों की चिकित्सा व्यवस्थाएँ भी इस महामारी को रोकने में नाकाम साबित हुईं। इस वैश्विक महामारी पर क़ाबू कर पाने में तमाम पूँजीवादी देशों की सरकारों की नीतियाँ और उनकी ओर से की गयी कोताही बेशक दोषी रहीं, परन्तु यह भी सच है कि पूँजीवादी चिकित्सा व्यवस्था ऐसी महामारियों की रोकथाम करने में सक्षम ही नहीं है। इसलिए हमारे सवालों के घेरे में केवल सरकारें ही नहीं बल्कि यह समूची व्यवस्था होनी चाहिए।

कोरोना जैसी महामारी की रोकथाम करने में पूँजीवादी चिकित्सा व्यवस्था इसलिए अक्षम है क्योंकि इसका मक़सद समाज को रोगमुक्त करना नहीं बल्कि रोगों के फैलने की परिस्थिति में मुनाफ़ा कमाने के अवसर तलाशना है। चाहे वह बीमारियों पर शोध का क्षेत्र हो या दवाइयों व अन्य चिकित्सा सामग्रियों (पर्सनल प्रोटेक्शन इक्विपमेण्ट, टेस्टिंग किट, मास्क, ग्लव्स, वेण्टिलेटर, सर्जिकल व अन्य चिकित्सीय उपकरण आदि) का उत्पादन हो, या अस्पताल में रोगियों का इलाज करना हो, चाहे पैथोलॉजी का क्षेत्र हो या फिर स्वास्थ्य बीमा का क्षेत्र हो, पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के विकास के साथ ही साथ ये सभी विभिन्न क़िस्म के माल में तब्दील होते जाते हैं। पूँजीपतियों की नज़र इन मालों के उपयोग मूल्य पर नहीं बल्कि इनके विनिमय मूल्य पर गड़ी रहती है।

पिछले 4-5 दशक के दौरान पूँजीवादी विश्व में चिकित्सा के इस व्यवसाय में विशालकाय बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ लगातार अपने पाँव पसारती जा रही हैं। लोगों की विपत्तियों को भुनाकर मुनाफ़ा कमाने के इस गोरखधन्धे को 'मेडिकल-इण्डस्ट्रियल कॉम्पलेक्स' के नाम से भी जाना जाता है। विश्व साम्राज्यवाद के चौधरी अमेरिका में यह गोरखधन्धा अपने सबसे नंगे रूप में देखा जा सकता है जहाँ मुट्ठीभर फ़ार्मा कम्पनियों, बीमा कम्पनियों और अस्पतालों की चेन ने समूची चिकित्सा व्यवस्था को अपने चंगुल में रखा हुआ है। लोगों की जानों से खेलने वाली इन कम्पनियों के शीर्ष पर जो लोग विराजमान होते हैं उनका चिकित्सा क्षेत्र से कोई लेना-देना नहीं होता, वे अन्य व्यवसायों की ही भाँति चिकित्सा को भी मुनाफ़ा कमाने का ज़रिया समझते हुए अपनी योजनाएँ बनाते हैं। ब्रिटेन व यूरोप के कई देशों की बात करें तो अगर उन देशों में अब भी सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाएँ अमेरिका की तुलना में बेहतर हैं तो इसकी वजह वहाँ के पूँजीपतियों की भलमनसाहत नहीं, बल्कि उन देशों में मज़दूर वर्ग के संघर्षों की विरासत रही है। हालाँकि नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के तीन से चार दशकों में वे देश भी स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण और बाज़ारीकरण की महामारी से अछूते नहीं रहे हैं और उन देशों में स्वास्थ्य बजट में लगातार कटौतियाँ की जाती रही हैं। इस वजह से इटली, स्पेन और इंग्लैण्ड जैसे देशों की चिकित्सा व्यवस्था को भी कोरोना महामारी पर क़ाबू पाने में अक्षम्य देरी हुई। स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण और बाज़ारीकरण की महामारी के सबसे ख़तरनाक नतीजे भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में देखने को आ रहे हैं जहाँ लूट के इस व्यवसाय के चंगुल में फँसकर हर साल लाखों लोग तबाह-बरबाद हो जाते हैं।

पूँजीवादी चिकित्सा व्यवस्था में फ़ार्मा कम्पनियों की प्राथमिकता समाज की ज़रूरत के अनुसार रोगों से निजात पाने की नहीं बल्कि मुनाफ़े के आधार पर तय होती है। उनमें शोध पर आवंटित बजट में कटौती करके विज्ञापन, मार्केटिंग, पेटेण्ट की ख़रीद-फ़रोख़्त, दूसरी कम्पनियों के अधिग्रहण आदि पर ज़ोर आम बात है। जिन बीमारियों पर शोध होता भी है उनकी भी प्राथमिकता इस बात से तय होती है कि किस बीमारी की दवा बनाने में जल्दी और ज़्यादा मुनाफ़ा मिलेगा। अधिकांश फ़ार्मा कम्पनियाँ फ़्लू, मलेरिया, इन्सेफ़ेलाइटिस जैसी करोड़ों लोगों को प्रभावित करने वाली बीमारियों के लिए सस्ती और सर्वसुलभ एण्टीवायरल और एण्टीबॉयोटिक दवाओं की बजाय मोटापा कम करने, बुढ़ापा रोकने, पुंसत्व बढ़ाने और जीवनशैली से सम्बन्धित रोगों की दवाओं पर शोध करने में ज़्यादा संसाधन ख़र्च करती हैं क्योंकि इनमें मुनाफ़ा ज़्यादा होता है। 2003 में सार्स बीमारी के फैलने के बाद कुछ समय तक उसके टीके पर शोध शुरू हुआ था, परन्तु मुनाफ़ा कमाने का तात्कालिक मौक़ा न देख ये शोध भी ज़्यादा लम्बे समय तक नहीं टिक सके। जीवविज्ञान व चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में हाल के वर्षों में हुई अभूतपूर्व तरक़्क़ी के आधार पर कई विशेषज्ञ यह दावा करते हैं कि सिद्धान्ततः फ़्लू की सार्वभौमिक वैक्सीन मुमकिन है, परन्तु चूँकि फ़ार्मा कम्पनियों को उसमें ज़्यादा मुनाफ़े की सम्भावना नहीं दिखती है इसलिए ऐसी वैक्सीन अभी तक तैयार नहीं हो सकी है।

इसी तरह स्वास्थ्य बीमा के पूरे क्षेत्र में दैत्याकार बीमा कम्पनियों का दबदबा है जो लोगों के जीवन की असुरक्षा को भुनाकर और लोगों को विपत्ति का डर दिखाकर क़िस्म-क़िस्म के बीमा पॉलिसी रूपी माल बेचती हैं। अमेरिका के चिकित्सा जगत में तो इन बीमा कम्पनियों के वर्चस्व की वजह से वहाँ स्वास्थ्य सुविधाएँ ग़रीबों-मज़दूरों की एक अच्छी-ख़ासी आबादी की पहुँच के बाहर हो चुकी हैं क्योंकि वे बीमा पॉलिसी ख़रीद नहीं सकते और दवा-इलाज का ख़र्च बेहद ज़्यादा है। जो लोग बीमा पॉलिसी लेते भी हैं उनमें से भी कई सही इलाज न मिलने पर मर जाते हैं क्योंकि बीमा कम्पनियाँ कोई दुर्घटना या बीमारी होने पर इलाज का ख़र्च उठाने से बचने के लिए तरह-तरह की तिकड़में करती हैं। ऐसे में समझा जा सकता है कि मुनाफ़े पर टिकी बीमा की यह प्रणाली लोगों की जेब पर डाका डालने का काम करती है, ना कि विपत्ति के समय लोगों को सम्बल देने का।

निजी अस्पतालों में दवा-इलाज के नाम पर बेहिसाब लूट पर टिकी पूँजीवादी चिकित्सा व्यवस्था कोरोना जैसी महामारी के लिए बिल्कुल तैयार ही नहीं थी। अमेरिका जैसे समृद्ध देश की चिकित्सा व्यवस्था इस महामारी के आते ही धराशायी हो गयी। वहाँ निजी अस्पतालों की पूरी व्यवस्था पहले से ही घनघोर व्यावसायिकता के चंगुल में थी। नवउदारवाद के दौर में अस्पतालों में बेड की संख्या में लगातार गिरावट देखने में आयी। अस्पतालों पर यह दबाव रहता है कि उनके पास कुल बेड इतने ही होने चाहिए, कि किसी भी समय ख़ाली बेड की संख्या कुल बेड के 10 फ़ीसदी से अधिक न हो। यही स्थिति मास्क, ग्लव्स, सैनिटाइज़र व चिकित्सीय उपकरणों की रहती है। डॉक्टरों, नर्सों, वार्ड ब्वॉय आदि की भर्ती बिल्कुल किसी कम्पनी की तर्ज़ पर सीमित संख्या में करके उनसे ज़्यादा से ज़्यादा काम कराया जाता है और ज़रूरत न होने पर उनको नौकरी से निकाल बाहर किया जाता है। ज़ाहिरा तौर पर ऐसी व्यवस्था में अकस्मात आने वाली किसी महामारी के लिए तैयारी की कोई गुंजाइश नहीं रहती है। ऐसे में यह ताज्जुब की बात नहीं है कि अमेरिका जैसे विकसित देश में जब कोविड-19 की बीमारी फैलनी शुरू हुई तब वहाँ के अस्पतालों में बेड, टेस्टिंग किट, मास्क, सैनिटाइज़र, पर्सनल प्रोटेक्शन इक्विपमेण्ट, वेण्टिलेटर आदि की भारी क़िल्लत हो गयी जिसकी वजह से कुछ ही हफ़्तों में कोरोना महामारी के केस और मरने वालों की संख्या वहाँ दुनिया में सबसे ज़्यादा हो गयी।

क्यों बेहतर है समाजवादी चिकित्सा व्यवस्था

पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में निहित अराजकता और योजनाविहीनता का असर पूँजीवादी चिकित्सा व्यवस्था की सीमा तय कर देता है। किसी प्राकृतिक आपदा या महामारी के आते ही इस व्यवस्था की सीमा जगज़ाहिर हो जाती है। पूँजीवादी ढाँचे के भीतर इस सीमा से पार पाने का कोई रास्ता नहीं होता। इसका एकमात्र रास्ता इस पूँजीवादी ढाँचे को तोड़कर समाजवादी व्यवस्था क़ायम करने से होकर जाता है। समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन की सामाजिक योजना के अहम हिस्से के रूप में चिकित्सा क्षेत्र का भी योजनाबद्ध विकास किया जाता है। समाजवादी चिकित्सा व्यवस्था में मुनाफ़े की कोई जगह नहीं होती है और समाज में चिकित्सा शोध, दवा व चिकित्सा उपकरणों का उत्पादन, अस्पताल, नर्सिंग होम व पैथोलॉजी आदि का एकमात्र उद्देश्य समाज को बीमारियों से निजात दिलाकर एक स्वस्थ समाज बनाना होता है। समाज के योजनाबद्ध विकास में महामारियों की रोकथाम व उन पर नियंत्रण की योजना भी शामिल होती है।

जैसाकि सोवियत संघ (1956 तक) व चीन (1976 तक) के समाजवादी प्रयोगों में देखने में आया, समाजवादी चिकित्सा व्यवस्था में स्वास्थ्य और साफ़-सफ़ाई के मुद्दे पर व्यापक जन-लामबन्दी की जाती है और चिकित्सा के क्षेत्र में जनता की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की जाती है। सोवियत संघ में सोवियतों के स्तर पर और चीन में जनकम्यूनों व अन्य उत्पादक इकाइयों एवं स्कूल-कॉलेज के स्तर तक स्वास्थ्य सुविधाओं और साफ़-सफ़ाई की योजना बनायी जाती थी और लोगों की सक्रिय भागीदारी के ज़रिये योजनाओं को लागू किया जाता था। जनभागीदारी व योजनाबद्धता पर आधारित समाजवादी चिकित्सा व्यवस्था की ही बदौलत न सिर्फ़ रूस में, जो 1917 की अक्टूबर क्रान्ति के पहले एक पिछड़ा पूँजीवाद देश था, बल्कि चीन में भी, जो 1949 की नवजनवादी क्रान्ति के पहले एक बेहद पिछड़ा अर्द्ध-सामन्ती व अर्द्ध-औपनिवेशिक देश था, महज़ कुछ वर्षों के भीतर तमाम जानलेवा बीमारियों पर क़ाबू पा लिया गया। माओकालीन चीन की चिकित्सा व्यवस्था कितनी कारगर थी इसका अन्दाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि क्रान्ति से पहले वहाँ नवजात मृत्यु दर 1,000 में 300 तक पहुँच चुकी थी जोकि 1970 के दशक तक आते-आते 40 से नीचे हो गयी जो अमेरिका जैसे विकसित देशों के समतुल्य थी।

इस सन्दर्भ में चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान चिकित्सा के क्षेत्र में किये गये प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस दौर में चिकित्सा व्यवस्था को महानगरों में स्थित बड़े अस्पतालों पर केन्द्रित करने की बजाय गाँवों और दूर-दराज़ के इलाक़ों तक ले जाया गया जहाँ चीन की अधिकांश आबादी रहती थी। इस दौरान माओ के नेतृत्व में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने बीमारियों की रोकथाम पर विशेष ज़ोर देते हुए लोगों की सक्रिय भागीदारी पर विशेष ज़ोर दिया, हालाँकि इससे पहले 1950 के दशक में भी 'देशभक्तिपूर्ण स्वास्थ्य अभियान' जैसे अभियानों के तहत लोगों को स्वास्थ्य व स्वच्छता की मुहिम में शामिल किया गया था। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर में गाँव-

(पेज 27 पर जारी)

पूँजीवाद और स्वास्थ्य सेवाओं की बीमारी

– डॉ. नवमीत

भारतीय संविधान के भाग 3, आर्टिकल 21 में एक मूलभूत अधिकार दिया गया है जिसको जीवन की रक्षा का अधिकार कहा जाता है, और साथ ही संविधान में वर्णित राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊँचा करने तथा लोक स्वास्थ्य में सुधार करने को राज्य के कर्तव्य की बात कही गयी है। इस प्रकार हमारे देश के हर नागरिक के जीवन और स्वास्थ्य की रक्षा और देखभाल की ज़िम्मेदारी सीधे तौर पर सरकार की है। लेकिन असल में होता इसका उल्टा है। **सरकार लगातार लोक स्वास्थ्य से हाथ खींचती जा रही है और देश की जनता का स्वास्थ्य ख़ूनचूसू पूँजीपतियों के हाथ में आता जा रहा है। आइए देखते हैं कि कैसे भारत में पूँजीवादी व्यवस्था मुनाफ़े के लिए लोगों के स्वास्थ्य और ज़िन्दगी के साथ खिलवाड़ कर रही है।**

सार्वजनिक स्वास्थ्य का आधुनिक इतिहास भारत में ब्रिटिश काल से शुरू होता है जब अंग्रेज़ों ने भारत में अपना शासन सुदृढ़ करने के लिए अन्य चीज़ों के साथ सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए भी कुछ प्रावधान शुरू किये थे। लेकिन अंग्रेज़ों को एक ग़ुलाम देश के स्वास्थ्य की कोई ख़ास चिन्ता नहीं थी और इस पूरे कालखण्ड के दौरान भारत एक बीमार और कुपोषित देश बना रहा। आज़ादी के बाद कांग्रेस के नेतृत्व में पूँजीपति वर्ग के हाथ में जब सत्ता आयी तो पहली पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सार्वजनिक स्वास्थ्य को भी सरकार के कार्यक्रम में शामिल किया गया। जैसा कि ऊपर ज़िक्र हुआ है कि संविधान के तहत लोक स्वास्थ्य को भी सरकार का कर्तव्य माना गया था। यह वह दौर था जब पूरी दुनिया में कल्याणकारी राज्य के कीन्सियाई फ़ॉर्मूले को लागू किया जा रहा था ताकि पूँजीवाद की फटी चादर में कुछ पैबन्द लगा कर काम चलाया जा सके। सो भारत में भी, दिखावे के तौर पर ही सही, कुछ कल्याणकारी काम शुरू किये गये। लेकिन 1980 का दशक आते आते कीन्सियाई फ़ॉर्मूले की फूँक निकलने लगी। लगातार जारी पूँजीवादी संकट के चलते पूरी दुनिया की पूँजीवादी सरकारें जनकल्याणकारी कामों से हाथ खींचने लगी और पूरी दुनिया में भूमण्डलीकरण और नवउदारीकरण की नीतियाँ शुरू हुईं। अधिकतर देशों के साथ भारत में भी 1990 के दशक की शुरुआत में आर्थिक सुधारों के नाम पर इन नीतियों की शुरुआत की गयी, जो पिछले दो दशकों से लगातार तेज़ होती चली जा रही हैं।

अभी तक पूरी दुनिया में जन स्वास्थ्य को देखने वाली संस्था विश्व स्वास्थ्य संगठन थी। लेकिन भूमण्डलीकरण के साथ ही इस क्षेत्र में नये खिलाड़ियों विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन का प्रवेश होता है। इन संस्थाओं के आगमन के बाद से दुनिया भर की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीतियों में विश्व स्वास्थ्य संगठन की भूमिका कम से कमतर होती चली गयी और इन संस्थाओं की भूमिका बढ़ती चली गयी। 1987 में विश्व बैंक financing health services in developing countries यानि विकासशील देशों में स्वास्थ्य सेवाओं के वित्तपोषण के नाम से एक नयी स्कीम लेकर आया। **विश्व बैंक ने इस स्कीम के तहत ये सुझाव दिए थे:**

1. सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में मरीज़ द्वारा किये जाने वाले भुगतान की राशि को बढ़ाया जाये,

2. निजी स्वास्थ्य बीमा को विकसित किया जाये,

3. निजी क्षेत्र की भूमिका को स्वास्थ्य सेवाओं में बढ़ाया जाये, और

4. सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं का विकेन्द्रीकरण किया जाये।

विश्व बैंक ने 1993 में अपनी वैश्विक विकास रिपोर्ट में स्वास्थ्य में निवेश के नाम पर ये सभी सुझाव और अधिक परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किये और तमाम क़र्ज़दार देशों, जो नवउदारीकरण की नीतियों को लागू करने के चलते इसके क़र्ज़ तले आ गये थे, को ये सुझाव मानने और लागू करने पर मजबूर कर दिया। इसके साथ ही स्वास्थ्य सेवाओं को अधिकारिक रूप से सार्वजनिक सेवा की जगह माल के रूप में बदल दिया गया। और इस तरह पूरी दुनिया में स्वास्थ्य क्षेत्र में सरकार की भूमिका कम से कमतर होती चली गयी और निजी क्षेत्र का दख़ल अधिक से अधिक होता चला गया।

भारत की बात की जाये तो **पिछले दो दशकों में आर्थिक सुधारों और नवउदारवादी नीतियों के चलते यहाँ हर क्षेत्र की तरह जनस्वास्थ्य की हालत भी ख़स्ता हो चुकी है।** विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन के हस्तक्षेप के कारण पिछले कुछ सालों में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं उनकी हम संक्षेप में चर्चा करेंगे। सबसे पहले तो जनस्वास्थ्य के क्षेत्र में निवेश से सरकार द्वारा हाथ खींचा जा रहा है और साथ ही छोटे-छोटे टेस्टों के लिए भी मरीज़ से पैसे वसूले जा रहे हैं। इसके बावजूद भी सरकारी अस्पतालों में बहुधा कोई सुविधा नहीं होती है या फिर उसके लिए इन्तज़ार ही इतना करना पड़ता है कि हार कर मरीज़ को प्राइवेट अस्पताल जाना पड़ता है, जहाँ ख़र्चा इतना होता है कि ग़रीब आदमी उसको वहन नहीं कर पाता। लेकिन इतना काफ़ी नहीं था। इसके साथ ही **सरकार स्वास्थ्य बीमा के रूप में एक और स्कीम लेकर आयी है जो कुछ और नहीं बल्कि पूँजीवादी सरकार द्वारा आम जनता से किया गया एक घिनौना मज़ाक़ है।** साफ़ सी बात है, **अगर स्वास्थ्य सेवाएँ सरकार द्वारा मुफ़्त में उपलब्ध करवायी जायें, जोकि पूरी तरह से सम्भव है, तो स्वास्थ्य बीमा की ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी।** ज़ाहिर है कि सरकार की नीयत ही नहीं है। तीसरा **सरकार लगातार इस क्षेत्र में निजी क्षेत्र की भागीदारी को बढ़ाती जा रही है। अब पूँजीपति तो कोई भी काम मुनाफ़े के लिए ही करता है तो साफ़ है कि स्वास्थ्य सेवाएँ महँगी तो होनी ही हैं।** परिणाम हमारे सामने है। इससे भी आगे बढ़ते हुए सरकार स्वास्थ्य सेवाओं के प्रबन्धन से भी पीछे हट रही है और यह ज़िम्मेदारी भी स्थानीय संस्थाओं को, जिनमें बड़े पैमाने पर साम्राज्यवाद के टुकड़ख़ोर ग़ैर-सरकारी संगठन यानि एनजीओ शामिल हैं, को सौंपती जा रही है।

बहरहाल बात करते हैं स्वास्थ्य सेवाओं में निवेश होने वाले सरकारी पैसे की। विश्व स्वास्थ्य संगठन की सिफ़ारिशों के अनुसार किसी भी देश को अपने सकल घरेलू उत्पाद यानि जीडीपी का कम से कम 5 प्रतिशत हिस्सा स्वास्थ्य में लगाना चाहिए। क्या आप जानते हैं भारत में यह कितना होता है? भारत में पिछले दो दशक से लगातार यह 1 प्रतिशत के आसपास रहा है। 11वीं पंचवर्षीय योजना में 2 प्रतिशत का लक्ष्य रखा गया था। लगाया गया केवल 1.09 प्रतिशत। 12वीं योजना के पहले सरकार ने उच्च स्तरीय विशेषज्ञों का एक ग्रुप बनाया था जिसने इस योजना में स्वास्थ्य सेवाओं के लिए जीडीपी का 2.5 प्रतिशत निवेश करने की सिफ़ारिश की थी लेकिन सरकार द्वारा लक्ष्य रखा सिर्फ़ 1.58 प्रतिशत। साफ़ है कि सरकार भले ही पूँजीपतियों को कई-कई लाख करोड़ की रियायतें और अनुदान दे दे, लेकिन जनता के लिए उसके पास पैसे की कमी हमेशा रहती है। ज़ाहिर है भारत सरकार स्वास्थ्य सेवाओं में पैसा ख़र्च नहीं करना चाहती। अब अगर सरकार किसी क्षेत्र में निवेश से हाथ खींचती है तो इसका सीधा मतलब होता है कि उस क्षेत्र में अब निजी कम्पनियाँ निवेश करेंगी। तो भारत में स्वास्थ्य सेवाओं में निजी क्षेत्र द्वारा किया गया निवेश कुल निवेश का 75 प्रतिशत है। यह पूरी दुनिया में स्वास्थ्य सेवाओं के अन्तर्गत निजी क्षेत्र की सबसे बड़ी भागीदारियों में से एक है। इस तरह ये कम्पनियाँ इस देश के आम आदमी के स्वास्थ्य की एवज़ में मोटा मुनाफ़ा कूट रही हैं। अब जबकि निजी कम्पनियों का लक्ष्य ही मुनाफ़ा है तो उनको बीमारियों के बचाव और रोकथाम यानि प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं में कोई दिलचस्पी नहीं होती, ये केवल बीमारियाँ हो जाने पर महँगा इलाज मुहैया कराती हैं।

इसके चलते **भारत का पहले से ही जर्जर प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा ढाँचा बिल्कुल ही बैठ चुका है।** भारत में हर तीस हज़ार की आबादी पर एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, हर एक लाख की आबादी पर 30 बेड वाले एक सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र और हर सब डिविजन पर एक 100 बेड वाले सामान्य अस्पताल का प्रावधान है जो कभी पूरा ही नहीं हुआ। उस पर भी पिछले दो दशक में भारत की आबादी तो बढ़ी है लेकिन स्वास्थ्य केन्द्रों में उसके अनुपात में नगण्य वृद्धि हुई है। सरकारी स्वास्थ्य केन्द्रों की भारी कमी के कारण ग़रीब आबादी को मजबूरन प्राइवेट डॉक्टरों के पास अपनी जेब कटवानी पड़ती है। जैसा कि हम ज़िक्र कर चुके हैं कि **मुनाफ़े की हवस के चलते निजी क्षेत्र की दिलचस्पी प्राथमिक स्वास्थ्य में कभी नहीं होती, वे केवल तृतीयक स्वास्थ्य सेवाओं यानि बड़े अस्पतालों में निवेश करते हैं, जबकि देश की मेहनतकश आबादी अधिकतर संक्रामक रोगों से जूझती है जिनमें तुरन्त प्राथमिक सेवा की ज़रूरत होती है।** दूसरा इन निजी और कॉर्पोरेट अस्पतालों का ख़र्चा इतना ज़्यादा होता है कि ग़रीब मेहनतकश ही नहीं बल्कि एक आम मध्यवर्गीय व्यक्ति भी इसको वहन नहीं कर सकता। नतीजतन उसको या तो मरना पड़ता है या फिर क़र्ज़े में डूबना पड़ता है। कुछ अध्ययनों के अनुसार **बीमारियों के इलाज में होने वाले ख़र्चों के चलते भारत में हर साल लगभग चार करोड़ लोग ग़रीबी की रेखा के नीचे चले जाते हैं।**

नरेन्द्र मोदी ने सत्ता में आने से पहले सभी को स्वास्थ्य सेवाएँ देने का वादा किया था। सत्ता में आने पर मोदी सरकार ने एक सार्वभौमिक स्वास्थ्य सेवा सिस्टम बनाने की योजना भी बनायी थी लेकिन 2015 में फ़ण्ड की कमी का बहाना बना कर इस योजना को ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया और अन्य वादों की तरह यह भी एक चुनावी जुमला सिद्ध हुआ। जले पर नमक छिडकते हुए **2015 की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में तो सरकार ने खुले तौर पर स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण की बात पर ज़ोर दिया है।** इसके लिए सरकार का शिगूफ़ा है प्राइवेट पब्लिक पार्टनरशिप, जिसमें इन्फ़्रास्ट्रक्चर और पैसा सरकार यानि देश की जनता का और मुनाफ़ा पूँजीपतियों का होगा। दलील दी गयी है कि ग़रीब आदमी को इससे उच्च श्रेणी की स्वास्थ्य सुविधाएँ मिलेंगी, जबकि सच्चाई इससे कोसों दूर है। ग़रीब आदमी को सिर्फ़ ठोकर मिलती है, या फिर मिलती है बीमारी से मृत्यु। 2007 में दिल्ली उच्च न्यायालय ने निर्देश दिया था कि प्राइवेट अस्पतालों में 10 प्रतिशत बिस्तर ग़रीब मरीज़ों के लिए मुफ़्त होने चाहिए। इसके लिए दिल्ली सरकार ने प्राइवेट अस्पतालों को नोटिफ़िकेशन भी जारी किया हुआ है। लेकिन इस बात से इन अस्पतालों के मालिकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये अस्पताल अपने बिस्तरों को ख़ाली रख लेते हैं लेकिन ग़रीबों को कभी भर्ती नहीं करते। हाँ, अगर कोई पैसे देकर इलाज करवाना चाहे तो ज़रूर उसकी जेब तराशने में कोई कसर नहीं छोड़ते।

ख़ैर बात करते हैं दवा उद्योग की। स्वास्थ्य सेवाएँ बिना दवा के नहीं हो सकती। अतः इसके साथ दवाओं के गोरखधन्धे का ज़िक्र करना भी ज़रूरी है। विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों के अनुसार भारत सहित तमाम विकासशील देशों की ग़रीब जनता महँगी दवाएँ लेने पर मजबूर है। विश्व व्यापार संगठन का एक समझौता है जो बौद्धिक सम्पदा अधिकार के व्यापार-सम्बन्धी पहलुओं पर आधारित है। अंग्रेज़ी में इसको TRIPS कहा जाता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के सभी सदस्यों के लिए इसको मानना अनिवार्य है। इस समझौते के अनुसार किसी भी कम्पनी को अपने पेटेण्ट का अधिकार 20 वर्ष तक मिलता है। मतलब सम्बन्धित दवा बनाने और बेचने के सर्वाधिकार उस कम्पनी के पास 20 साल तक रहते हैं। कहने को तो इसमें एक अनुच्छेद यह भी है कि किसी आपात स्थिति में कोई सरकार पेटेण्ट दवा के सस्ते घरेलू उत्पादन को छूट दे सकती है लेकिन जब भी कोई देश ऐसा करने की कोशिश करता है तो अमेरिका या अन्य साम्राज्यवादी देश उस देश पर या तो आर्थिक प्रतिबन्ध लगा देते हैं या उससे व्यापार सम्बन्ध तोड़ लेते हैं या फिर उसको निगरानी सूची में डाल देते हैं। इसके चलते भारत सरकार ने भी अपना 1970 का पेटेण्ट एक्ट 2005 में बदल दिया है। 2005 से पहले पुराने एक्ट के चलते भारत में सस्ती जेनेरिक दवाओं के उत्पादन में कुछ हद तक छूट थी जो किसी हद तक देश की ग़रीब जनता को सस्ती दवाएँ मुहैया कराने में मददगार था। अब न केवल पेटेण्टेड दवाएँ महँगी मिलती हैं, बल्कि इन पेटेण्टेड दवाओं पर ड्रग प्राइस कण्ट्रोल ऑर्डर, जो दवाओं के मूल्य पर नियंत्रण रखता है, भी लागू नहीं होता। ऐसे में अब हालत ये है कि अधिकतर ज़रूरी दवाएँ आम आदमी की पहुँच से बाहर हैं।

अब अगर डॉक्टरों की बात की जाये तो **भारत में स्वास्थ्य सेवाओं में डॉक्टरों की भारी कमी का आलम ये है कि भारत में दस हज़ार की आबादी पर सरकारी और प्राइवेट मिलाकर कुल डॉक्टर ही 7 हैं और अगर अस्पतालों में बिस्तरों की बात करें तो दस हज़ार की आबादी पर सिर्फ़ 9 बिस्तर मौजूद हैं।** इस पर भी उदारीकरण और निजीकरण

(पेज 27 पर जारी)

क्रान्तिकारी समाजवाद ने किस प्रकार महामारियों पर क़ाबू पाया
सोवियत संघ और क्रान्तिकारी चीन के अनुभव

– आनन्द सिंह

पिछले डेढ़ वर्ष से जारी कोरोना वैश्विक महामारी ने न सिर्फ़ तमाम पूँजीवादी देशों की सरकारों के निकम्मेपन को उजागर किया है बल्कि पूँजीवादी चिकित्सा व्यवस्था के जनविरोधी चरित्र को भी पूरी तरह से बेनक़ाब कर दिया है और पूँजीवाद के सीमान्तों को उभारकर सामने ला दिया है। मुनाफ़े की अन्तहीन सनक पर टिके पूँजीवाद की क्रूर सच्चाई अब सबके सामने है। विज्ञान व प्रौद्योगिकी की विलक्षण प्रगति का इस्तेमाल महामारी पर क़ाबू पाने की बजाय ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने के नये अवसर तलाशने के लिए किया जा रहा है। पूँजीवाद के इस मानवद्रोही चरित्र के उजागर होने के बाद यह सवाल बेहद प्रासंगिक हो जाता है कि समाजवाद में महामारियों पर किस प्रकार क़ाबू पाया जाता है। इस लेख में हम बीसवीं सदी की दो महान क्रान्तियों, रूसी क्रान्ति और चीनी क्रान्ति, के बाद महामारियों व बीमारियों पर नियंत्रण करने के लिए किये गये उपायों की चर्चा करेंगे।

अक्टूबर क्रान्ति के बाद रूस में महामारियों पर क़ाबू कैसे पाया गया?

रूस में 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद स्थापित समाजवादी सत्ता जहाँ एक ओर अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए 14 साम्राज्यवादी देशों के हमलों, घेरेबन्दी और देश के भीतर जारी गृहयुद्ध व भीषण खाद्य संकट से जूझ रही थी वहीं दूसरी ओर उसे अनेक महामारियों का सामना भी करना पड़ा था। यह वही दौर था जब पूरी दुनिया में स्पैनिश फ़्लू नामक महामारी फैली हुई थी। रूस में स्पैनिश फ़्लू से भी ज़्यादा क़हर टाइफ़स नामक महामारी बरपा कर रही थी। 1918 से 1922 के बीच टाइफ़स ने तक़रीबन 25 लाख लोगों को अपना शिकार बना लिया था। इसके अलावा हैज़ा, चेचक और तपेदिक ने भी महामारी की शक्ल अख़्तियार कर ली थी। ग़ौरतलब है कि यह वही दौर था जब प्रथम विश्वयुद्ध भी जारी था जिसकी वजह से भी परजीवी कीटाणुओं के पनपने में मदद मिल रही थी और तमाम बीमारियाँ महामारियों का रूप ले रही थीं।

ग़ौरतलब है कि समाजवादी सत्ता के पास उस समय संसाधन बेहद सीमित थे और युद्ध व गृहयुद्ध की परिस्थिति में उसकी चुनौती और कठिन हो गयी थी। उस समय जीवविज्ञान व चिकित्सा विज्ञान भी आज के दौर से बहुत पीछे था। एण्टीबायोटिक जैसी दवाओं का आविष्कार अभी नहीं हुआ था। युद्धों की वजह से अस्पताल, चिकित्सीय उपकरणों, चिकित्सकों और चिकित्साकर्मियों का भी भीषण अभाव था।

इस विकट परिस्थिति में नवजात मज़दूर सत्ता ने महामारियों पर क़ाबू पाने के लिए जो उपाय किये उनसे आज भी प्रेरणा ली जा सकती है। सोवियत सत्ता ने क्रान्ति के फ़ौरन बाद स्वास्थ्य सेवाओं का राष्ट्रीकरण किया जिसकी बदौलत दवाओं व अन्य चिकित्सीय सुविधाओं का योजनाबद्ध ढंग से इस्तेमाल किया जा सका। कालाबाज़ारियों के ख़िलाफ़ सख़्त कार्रवाई करके चिकित्सीय संसाधन जनता को नि:शुल्क उपलब्ध कराये गये। दवाओं और चिकित्सीय उपकरणों के उत्पादन के लिए नये कारख़ाने लगाये गये और हर शहर व क़स्बों में नये अस्पताल खोले गये। इन त्वरित क़दमों की बदौलत ही रूस में स्पैनिश फ़्लू पर पूँजीवादी देशों से पहले ही क़ाबू पा लिया गया था।

क्रान्ति के एक साल पूरा होने से पहले ही जुलाई 1918 में सार्वजनिक स्वास्थ्य की जन कमीसारियत (नारकोमज्द्राव) स्थापित की गयी जिसका लक्ष्य सोवियत संघ में चिकित्सा सम्बन्धी संस्थाओं, शोधों व अनुसन्धानों, महामारी की निगरानी करने वाली संस्थाओं, चिकित्सीय शिक्षण व प्रशिक्षण एवं चिकित्सा व स्वच्छता सम्बन्धी जागरूकता फैलाने वाली संस्थाओं के बीच तालमेल करके एक एकीकृत व सार्वभौमिक प्रणाली की स्थापना करना था। नारकोमज्द्राव की तमाम गतिविधियाँ दो वैचारिक स्तम्भों पर आधारित थीं: पहला, लोगों के स्वास्थ्य की स्थिति में सामाजिक कारकों की प्रधानता और दूसरा, रोग निवारक तरीक़ों की बजाय रोग निरोधी तरीक़ों की प्रधानता।

तत्कालीन रूसी समाज के पिछड़ेपन और अशिक्षा को देखते हुए सोवियत सत्ता ने लोगों के बीच स्वास्थ्य और स्वच्छता सम्बन्धी बुनियादी जानकारी को बड़े पैमाने पर प्रचारित करने का बीड़ा उठाया और स्वास्थ्य और स्वच्छता को एक जनान्दोलन का रूप दिया। आज की पूँजीवादी सत्ताएँ टेलीविज़न, इण्टरनेट और सोशल मीडिया के बावजूद स्वास्थ्य व स्वच्छता सम्बन्धी सही जानकारी लोगों तक नहीं पहुँचा पा रही हैं। लेकिन आज से एक सदी पहले समाजवादी सत्ता ने ये काम पोस्टरों के ज़रिये कारगर ढंग से पूरा करके दिखाया। शहरों, क़स्बों और गाँवों को स्वास्थ्य व स्वच्छता के प्रति जागरूकता फैलाने वाले पोस्टरों से पाट दिया गया था। विक्तोर देनी और दिमित्री मूर जैसे सोवियत जन कलाकारों ने ऐसे रचनात्मक पोस्टरों को बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। ये पोस्टर आसान भाषा में और ग्राफ़, चार्ट व तस्वीरों के साथ बनाये जाते थे ताकि कम पढ़े लिखे और निरक्षर लोग भी उन्हें समझ सकें।

महामारियों को फैलने से रोकने के लिए लोगों के बीच जागरूकता फैलाने के लिए चलायी जा रही मुहिम को 'स्वच्छता प्रबोधन' का नाम दिया गया। इस मुहिम की ख़ासियत यह थी कि इसे शहरों, क़स्बों व गाँवों में मज़दूरों और किसानों की कमेटियों की सहभागिता से चलाया गया था। बड़े पैमाने पर पोस्टर लगाने के अलावा ये कमेटियाँ घरों व सार्वजनिक स्थानों का मुआयना करती थीं और लोगों के बीच स्वास्थ्य व स्वच्छता सम्बन्धी अहम जानकारियाँ देती थीं तथा नियमित नहाने और हाथ साफ़ करने के लिए साबुन का वितरण करती थीं। इसके अलावा देश के कोने-कोने तक स्वास्थ्य व स्वच्छता सम्बन्धी जानकारी पहुँचाने के लिए विशेष ट्रेनें चलायी गयी थीं जिनमें प्रदर्शनी के माध्यम से लोगों को जागरूक किया जाता था। कई ऐसी ट्रेनें भी चलायी गयीं जिनमें अस्पताल की सुविधाएँ मौजूद थीं। यही नहीं सार्वजनिक स्नानघर व शौचालय की व्यवस्था से लैस ट्रेनें भी चलायी गयीं।

क्रान्ति के बाद चिकित्सकों, सह-चिकित्सकों, नर्सों, मिडवाइफ़ों, डेण्टिस्टों, फ़ार्मासिस्टों व अन्य चिकित्सा कर्मियों की भारी क़िल्लत से निपटने के लिए विशेष शिक्षण व प्रशिक्षण अभियान चलाया गया। 1913 और 1926 के बीच में ऐसे चिकित्सा कर्मियों की संख्या में 60 फ़ीसदी की बढ़ोतरी हुई।

'दस दिन जब दुनिया हिल उठी' जैसी ऐतिहासिक पुस्तक के लेखक, प्रसिद्ध अमेरिकी पत्रकार और क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी **जॉन रीड** उस दौर में रूस में ही थे। टाइफ़स का क़हर इतना ज़्यादा था कि रीड भी उसकी चपेट में आ गये। टाइफ़स के संक्रमण की वजह से 1920 में उनकी मृत्यु हो गयी। अपनी मृत्यु से कुछ दिनों पहले ही उन्होंने सोवियत रूस में महामारी की विकट परिस्थिति और समाजवादी सत्ता द्वारा उससे निपटने के लिए किये जा रहे उपायों का विशद वर्णन 'लिबरेटर' पत्रिका के एक लेख में किया था। इस लेख में रीड लिखते हैं :

"टाइफ़स, रुक-रुक कर आने वाला बुख़ार, इन्फ़्लुएंज़ा मज़दूरों में बहुत तेज़ी से फैल रहे थे; गाँवों में जहाँ पेलाग्रा (एक बीमारी) का क़हर था, वहाँ किसानों को नमक तक नहीं मिल पा रहा था। दो साल से ज़्यादा समय से अर्द्ध-भुखमरी की स्थिति में रहने वाले लोगों के शरीर बीमारियों से जूझ नहीं पा रहे थे। मित्र देशों द्वारा रूस में दवाएँ तक भेजने में पाबन्दी की सचेत नीति की वजह से हज़ारों मौतें हुईं। इन सबके बावजूद सार्वजनिक स्वास्थ्य की जन कमीसारियत ने एक विशालकाय स्वच्छता सेवा तंत्र का निर्माण किया जो पूरे रूस में स्थानीय सोवियतों के नियंत्रण वाले चिकित्सीय अनुभागों का एक नेटवर्क था। इसकी पहुँच उन इलाक़ों तक भी थी जहाँ पहले कभी कोई डॉक्टर नहीं पहुँचा था। हर टाउनशिप में अब कम से कम एक और कई बार तो दो या तीन नये अस्पताल बनाये गये थे। इस सेवा तंत्र में डॉक्टरों को लामबन्द किया जाता था और अभी भी किया जा रहा है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह सेवा तंत्र पूरी तरह से नि:शुल्क है। लाखों चटक रंग के पोस्टर हर जगह लगाये गये हैं जिनमें चित्रों के माध्यम से लोगों को बताया गया है कि बीमारी से कैसे बचें और उनसे घरों, गाँवों और ख़ुद की सफ़ाई करने के लिए आग्रह किया गया है। रूस में एक अखिल रूसी मातृत्व प्रदर्शनी की शुरुआत की गयी जिसका उद्देश्य बच्चों को जन्म देने और उनके पालन-पोषण के बारे में महिलाओं को जागरूक करना है। इस प्रदर्शनी को रूस के सबसे दूर-दराज़ के गाँवों समेत देश के कोने-कोने तक ले जाया गया। हर क़स्बे और शहर में कामगार महिलाओं के लिए नि:शुल्क मातृत्व अस्पताल हैं जहाँ वे बच्चा पैदा होने के आठ सप्ताह पहले और बाद का समय बिताती हैं जहाँ उन्हें बच्चे की देखरेख करना सिखाया जाता है। इस दौरान उन्हें पूरा वेतन मिलता है। यही नहीं हर क़स्बे में नि:शुल्क दवाख़ानों, जिनकी संख्या ज़ारकालीन दौर से दस गुना ज़्यादा है, के अलावा दुधमुँहे बच्चों की माँओं के लिए विशेष परामर्श केन्द्र भी हैं। यहाँ बच्चों के लिए सबकुछ किया जाता है। अर्द्धभुखमरी झेल रहे जर्मनी में बच्चे बेहद कमज़ोर पैदा हो रहे हैं और बड़े होकर उनमें शरीर में तमाम विकृतियाँ आ रही हैं; जबकि अर्द्धभुखमरी झेल रहे रूस में बच्चे बादशाह हैं।"

रूसी क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आयी मज़दूर सत्ता के इन भगीरथ प्रयासों का ही नतीजा था कि 1923 तक न सिर्फ़ उसने साम्राज्यवादी हमलों, गृहयुद्ध और भुखमरी को मात दे दी बल्कि महामारियों पर भी काफ़ी हद तक क़ाबू पा लिया। क्रान्ति के इन शुरुआती आपातकालीन वर्षों में महामारी पर क़ाबू पाने के लिए किये गये प्रयासों को आगे बढ़ाते हुए समाजवादी निर्माण के दौर में सोवियत संघ में स्वास्थ्य और स्वच्छता पर विशेष ज़ोर दिया और मेहनतकशों के काम की तथा उनके जीवन की परिस्थितियाँ अधिक स्वस्थकर बनाने की दिशा में अभूतपूर्व उपलब्धियाँ हासिल कीं।

क्रान्तिकारी चीन ने महामारियों पर कैसे क़ाबू पाया?

1949 की नवजनवादी क्रान्ति के बाद सत्ता में आयी चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने शुरू से ही लोगों के स्वास्थ्य को प्राथमिकता दी। क्रान्ति के एक साल के भीतर ही 1950 में पहली राष्ट्रीय स्वास्थ्य कांग्रेस आयोजित की गयी जिसमें ग्रामीण स्वास्थ्य पर ज़ोर देने, अभियानों के ज़रिये रोगों की रोकथाम करने, आधुनिक और पारम्परिक चिकित्सा पद्धतियों के मिश्रण और स्वास्थ्य को जनान्दोलन बनाने का संकल्प लिया गया। क्रान्तिकारी चीन में शुरुआत से ही स्वास्थ्य, स्वच्छता और टीकाकरण की मुहिम छेड़ी गयी। 1950 से 1952 तक लगभग 60 करोड़ लोगों को चेचक का टीका लगाया गया जिसके बाद से चेचक के केसों की संख्या बहुत कम हो गयी। टाइफ़स के मामलों में 95 प्रतिशत की गिरावट देखने में आयी। 1957 तक चीन के दो-तिहाई से भी अधिक हिस्सों में मलेरिया, प्लेग, शिस्टोसोमियासिस, लीश्मैनियासिस, ब्रूसेलोसिस जैसी बीमारियों पर क़ाबू पाने के लिए महामारी नियंत्रण केन्द्र खोले जा चुके थे।

इसी दौर में "देशभक्तिपूर्ण स्वास्थ्य मुहिम" भी शुरू की गयी जिसका उद्देश्य लोगों में स्वच्छ वातावरण, सुरक्षित पेयजल, शौचालय निर्माण और अपशिष्ट निष्पादन के प्रति जागरूकता बढ़ाना था। सोवियत संघ की ही भाँति चीन में भी लोगों के बीच जागरूकता फैलाने के लिए बड़े पैमाने पर पोस्टरों का उपयोग किया गया। 1950 के दशक के अन्त में चार कीटों (मक्खियाँ, मच्छर, चूहे और गौरैया – बाद में गौरैया की जगह खटमल को शामिल किया गया) के ख़िलाफ़ गोलबन्द किया गया। इस प्रकार लोगों की पुरानी आदतें और रीति-रिवाज़ बदल दिये गये, और स्वच्छता को सम्मान मानने का नज़रिया लोगों के भीतर अपनी जगह बनाने लगा।

1965 में सांस्कृतिक क्रान्ति शुरू होने के बाद स्वास्थ्य सुविधाओं को चुस्त–दुरुस्त करने के लक्ष्य पर और अधिक ज़ोर दिया गया। स्वास्थ्य मंत्रालय और चीनी मेडिकल एसोसिएशन को "संघर्ष, आलोचना और बदलाव" का संघर्ष-केन्द्र बनाया गया। इस दौरान मेडिकल कॉलेजों में कोई नयी कक्षा शुरू नहीं की गयी और पहले से पढ़ रहे मेडिकल छात्रों को व्यावहारिक प्रशिक्षण देकर गाँवों में भेज दिया गया।

इस दौरान गाँव-गाँव व दूरदराज़ के इलाक़ों तक स्वास्थ्य सुविधाओं

(पेज 27 पर जारी)

मुनाफ़े के गोरखधन्धे में बलि चढ़ता विज्ञान और छटपटाता इन्सान

– डॉ. नवमीत

कहने को तो विज्ञान मानव का सेवक है लेकिन पूँजीवाद में यह मात्र मुनाफ़ा कूटने का एक साधन बन कर रह गया है। मुनाफ़े की कभी न मिटने वाली भूख से ग्रस्त यह मानवद्रोही पूँजीवादी व्यवस्था मानव के साथ-साथ मानवीय मूल्य और मानवीय संवेदनाओं को भी निरन्तर निगलती करती जा रही है। विज्ञान की ही एक विधा चिकित्सा विज्ञान का उदाहरण हम देख सकते हैं। विज्ञान की किसी भी अन्य विधा की तरह चिकित्सा विज्ञान ने भी पिछले कुछ दशकों में अभूतपूर्व तरक़्क़ी की है और इसकी बदौलत हमने अभूतपूर्व उपलब्धियाँ हासिल की हैं और अनेक बीमारियों पर विजय पायी है तथा अनेक बीमारियों से लड़ने में हम सक्षम हुए हैं। लेकिन **विज्ञान की अन्य धाराओं की तरह ही चिकित्सा विज्ञान भी पूँजीवाद के चंगुल में इस तरह से जकड़ा हुआ है कि उच्चतम मानवीय मूल्यों पर आधारित यह विज्ञान भी मात्र मुनाफ़ा कमाने का एक ज़रिया बनकर रह गया है। इस व्यवस्था में मरीज़ को मरीज़ नहीं बल्कि ग्राहक माना जाता है जिसको दवाएँ और इलाज बेचा जाता है। डॉक्टरों से लेकर दवा कम्पनियों और यहाँ तक कि इस व्यवसाय से जुड़े अधिकतर लोग मुनाफ़े के इस दलदल में बुरी तरह से फँसे हुए हैं।**

इसी सन्दर्भ में कुछ दिन पहले की ख़बर है कि अमेरिका की एक दवा कम्पनी टूरिंग फ़ार्मा ने "डैराप्रिम" नामक एक दवा को बनाने और बेचने के अधिकार ख़रीदे हैं। यह दवा "टोक्सोप्लाज़्मोसिस" नामक एक बीमारी व कुछ अन्य दवाओं के साथ एड्स के इलाज में इस्तेमाल की जाती है। लाखों एड्स पीड़ितों के लिए यह दवा संजीवनी की तरह काम करती है। इस दवा के अधिकार ख़रीदते ही इस कम्पनी ने जो पहला काम किया, वो ये कि इस दवा की क़ीमत, जो पहले प्रति टेबलेट 13.50 डॉलर थी, अगले ही दिन बढ़ाकर 750 अमेरिकी डॉलर प्रति टेबलेट कर दी। मरीज़ के इलाज पर होने वाला ख़र्चा जो पहले महज़ 1,130 डॉलर था, बढ़कर 63,000 डॉलर हो गया है। इस हिसाब से अगर एक साल के इलाज का ख़र्चा देखें तो यह अब 6,00,000 डॉलर यानी तक़रीबन 3,90,00,000 रुपये हो जाता है। कम्पनी के सीईओ मार्टिन श्क्रेली ने इस बढ़ोतरी के बारे में बेशर्मी से कहा कि उसको अपनी कम्पनी के शेयरहोल्डर्स के हितों का ध्यान रखना है। ज़ाहिर है कि लोगों के इलाज से इनको कोई मतलब नहीं है। बहरहाल 20%, 50%, 100% या 200% तक भी क़ीमतों में बढ़ोतरी अक्सर होती रहती हैं लेकिन इस बार तो इतनी बढ़ोतरी की गयी है कि इसका विरोध बुर्जुआ मीडिया में भी देखने को मिल रहा है। चौतरफ़ा थू-थू होने पर इतनी भारी-भरकम बढ़ोतरी को तो शायद यह कम्पनी कम भी कर दे, लेकिन बात सिर्फ़ एक कम्पनी या एक दवा की नहीं है। असल में यह वाकया पानी में डूबे हुए हिमखण्ड का बहुत थोड़ा सा दिखने वाला हिस्सा मात्र है। पूरा हिमखण्ड तो बहुत बड़ा है जो दिखायी ही नहीं देता। हाँ हम यह ज़रूर कह सकते हैं कि यह घटनाक्रम मुनाफ़े पर आधारित इस व्यवस्था को नंगा करने वाला एक क्लासिकीय उदाहरण है।

सब जानते हैं कि ये सभी कम्पनियाँ नयी दवाओं की सिर्फ़ मार्केटिंग और बिज़नेस करती हैं, कोई आविष्कार नहीं। इस तरीक़े से इन कम्पनियों को लगातार फ़ायदा ही हुआ है। इनका यह फ़ायदा ज़ाहिर है, मेहनतकश जनता की जेब पर बहुत भारी पड़ता है। लेकिन विश्वव्यापी आर्थिक संकट के चलते दवा कम्पनियों के मालिक भी आज के समय में मुसीबत में हैं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक संकट मुनाफ़े की गिरती दर के कारण पैदा होता है। इसकी अभिव्यक्ति अतिउत्पादन के रूप में होती है। मुनाफ़े की गिरती दर के कारण ही पूँजीपतियों का निवेश गिरता है। चूँकि निवेश की दर गिरती जाती है इसलिए छँटनी-तालाबन्दी होती है और मज़दरों को काम से

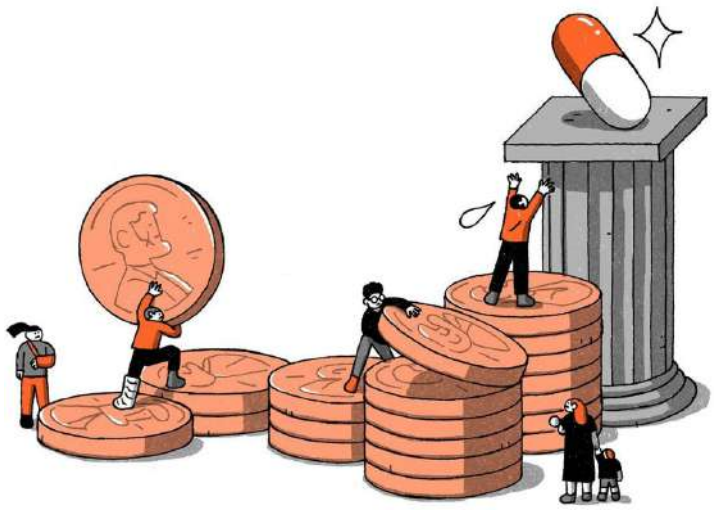

निकाला जाता है और इसलिए उनकी भी उपभोग की दर में गिरावट आती है और उपभोग की वस्तुओं के बाज़ार में भी अतिउत्पादन का संकट दिखाई पड़ता है। लेकिन अल्पउपभोग संकट का आधारभूत कारण नहीं है बल्कि एक लक्षण या परिणाम है। अल्पउपभोग के कारण बाज़ार में माल अटे पड़े रहते हैं। इस कारण पूँजीपति के मुनाफ़े का वास्तवीकरण नहीं हो पाता है। इससे संकट और अधिक बढ़ जाता है। इसको दवा उद्योग से जोड़कर देखें तो हम पाते हैं कि किसी भी अन्य उत्पाद की तरह दवा भी एक माल होती है। जब आर्थिक संकट आता है तो हर क्षेत्र की तरह यह इसको भी चपेट में ले लेता है। आज के समय में दवा उद्योग भी संकट से गुज़र रहा है। दूसरी तरफ़ अगले एक दशक के अन्दर अधिकतर दवाओं के पेटेण्ट भी ख़त्म होने वाले हैं, तो एकाधिकार ख़त्म होने पर इनको अरबों डॉलर का अतिरिक्त नुक़सान भी होगा। इसलिए ये अब अपना ध्यान कम इस्तेमाल होने वाली दवाओं पर केन्द्रित कर रहे हैं जिनमें प्रतियोगिता बहुत कम है। साफ़ है कि इस क्षेत्र में मनमाने दाम बढ़ाकर मुनाफ़े को बरकरार रखने की कोशिश की जा रही है। टूरिंग फ़ार्मा का यह क़दम भी इसी बात को साबित करता है।

दवा के दामों में बढ़ोतरी का औचित्य सिद्ध करने की कोशिश करते हुए श्क्रेली कह रहा है कि क़ीमतों में यह वृद्धि दरअसल मरीज़ों के ही "फ़ायदे" के लिए है। श्क्रेली ने दलील दी है कि इस एक्स्ट्रा मुनाफ़े का इस्तेमाल "मेडिकल रिसर्च" के लिए किया जायेगा जिससे आगे चिकित्सा विज्ञान और मरीज़ों को ही फ़ायदा होगा। लेकिन जिस तरह का रिसर्च पूँजीपति करते हैं वह किसी से छिपा हुआ नहीं है। एड्स एक लाइलाज बीमारी है जिसकी अभी तक कोई भी ऐसी दवा नहीं बनी है जो इसको पूरी तरह से ख़त्म कर दे और न ही इसकी कोई वैक्सीन अभी तक इजाद हो पायी है। इस दिशा में जो भी रिसर्च शुरू होता है वो कभी भी पूरा नहीं हो पाता क्योंकि या तो बड़े दवा निर्माता लॉबिंग करके उसको रुकवा देते हैं या फिर पैसे की कमी के चलते वह आगे बढ़ ही नहीं पाता। इसके पीछे कारण ये है कि अगर कोई वैक्सीन या ऐसी दवा इजाद हो गयी जो इस बीमारी को जड़ से ख़त्म कर दे तो इन कम्पनियों का मुनाफ़ा कम हो जायेगा जो ये मरीज़ को सालों तक दवा बेचकर कमाती हैं।

लेकिन यह सिर्फ़ एड्स की दवा की बात नहीं है। 2007 में अल्बर्टा यूनिवर्सिटी के शोधकर्ताओं ने पाया था कि "डीसीए" नाम का एक यौगिक कैंसर की कोशिकाओं को प्राकृतिक रूप से ख़त्म करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। प्रयोगशाला में किये गये प्रयोगों में यह रसायन कई तरह के कैंसर से लड़ने में कारगर पाया गया था। कैंसर के अलावा भी माइटोकॉण्ड्रिया से सम्बन्धित कई बीमारियों में यह यौगिक लम्बे समय से प्रयोग किया जाता रहा है। इसके मानव शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव भी वैज्ञानिकों को पता थे। लेकिन इस यौगिक के साथ एक दिक़्क़त थी। इसका पेटेण्ट नहीं करवाया जा सकता था। ज़ाहिर है बिना पेटेण्ट के इसमें मुनाफ़ा बहुत कम होना था तो इसके आगे रिसर्च के लिए किसी कम्पनी ने पैसा नहीं दिया। कुछ समय तक तो शोधकर्ताओं ने ख़ुद के पैसे से शोध को जारी रखने की कोशिश की लेकिन पैसे की गम्भीर कमी के चलते पिछले दो साल से इस दिशा में कोई ख़ास काम नहीं हो पाया है। ख़ुद के रिसर्च के नाम पर बड़ी (यहाँ तक कि मध्यम श्रेणी की भी) दवा कम्पनियाँ सिर्फ़ इतना करती हैं कि छोटी बायोटेक कम्पनियों से मूल रिसर्च फ़ार्मूले ख़रीद लेती हैं और उनका पेटेण्ट करवा कर मनमानी क़ीमत पर बेचती हैं।

इन बातों से यह बिल्कुल साफ़ दिखता है कि ये दवा कम्पनियाँ इलाज के लिए न तो कुछ ख़ास रिसर्च ही कर रही हैं और न ही रिसर्च पर पैसा लगा रही हैं। इनका मुख्य लक्ष्य जानलेवा बीमारियों के इलाज की दवा बनाना नहीं है बल्कि ऐसी दवाओं की मार्केटिंग करना और बेचना है जिनसे बीमारी लम्बी खिंचे। 1975 से 1997 के बीच में बहुराष्ट्रीय दवा कम्पनियों ने 1,233 नयी दवाएँ बाज़ार में उतारी थीं, जिनमे से सिर्फ़ 1 प्रतिशत यानि 13 दवाएँ ही ऐसी थीं, जो विकासशील देशों में लाखों लोगों की जानें लीलने वाले उष्णकटिबन्धीय रोगों के निदान में काम आती थीं। ज़ाहिर है इन देशों की मेहनतकश जनता की जान की कोई क़ीमत नहीं है क्योंकि वे लोग महँगी दवाओं को ख़रीदने की क्षमता नहीं रखते। असल में इन कम्पनियों की रिसर्च का मुख्य लक्ष्य "लाइफ़ स्टाइल डिज़ीज़" यानि ऐयाशी की वजह से होने वाली बीमारियों जैसे मोटापा और सौन्दर्य व विलासिता से सम्बन्धित रोगों जैसे गंजापन, झुर्रियां और नपुंसकता का इलाज ढूँढ़ना होता है। "मर्क" नामक एक बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनी का भूतपूर्व प्रमुख रॉय वेज्लस इस बात को खुलेआम स्वीकार करता है कि स्टॉकहोल्डरों वाली कोई भी कम्पनी अपने रिसर्च को तीसरी दुनिया के देशों में होने वाली बीमारियों के इलाज को ढूँढ़ने पर नहीं लगा सकती क्योंकि इससे उसका "दीवाला" पिट जायेगा। एक दवा कम्पनी में काम करने वाले शोधकर्ता ए.जे. स्लेटर ने "रॉयल सोसाइटी ऑफ़ ट्रॉपिकल मेडिसिन एण्ड हाइजीन" नामक एक प्रतिष्ठित पत्रिका में छपे एक पर्चे में निष्कर्ष निकाला था कि किसी नयी एण्टीबायोटिक को बनाना बहुत महँगा पड़ता है और तीसरी दुनिया के देशों में से उस दवा को बेचकर बहुत मुनाफ़ा नहीं कमाया जा सकता। साफ़ है कि इनके लिए मानवीय ज़िन्दगी से ज़्यादा क़ीमत मुनाफ़े की है।

अब अगर पेटेण्ट की बात करें तो विश्व व्यापार संगठन का एक समझौता है जो "बौद्धिक सम्पदा अधिकार के व्यापार से सम्बन्धित पहलुओं" पर आधारित है। अंग्रेज़ी में इसको Trade Related Aspects of Intellectual Property Rights (Trips) कहा जाता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के सभी सदस्यों के लिए इसको मानना अनिवार्य होता है। इस समझौते के अनुसार किसी भी कम्पनी को अपने पेटेण्ट का अधिकार 20 वर्ष तक मिलता है। मतलब सम्बन्धित दवा बनाने और बेचने के सर्वाधिकार उस कम्पनी के पास 20 साल तक रहते हैं। कहने को तो इस समझौते में एक अनुच्छेद यह भी डाला गया है कि आपात स्थिति में कोई सरकार उस देश में व्यापार करने वाली किसी भी कम्पनी को किसी पेटेण्ट दवा का फ़ॉर्मूला देने के लिए बाध्य कर सकती है और अमेरिका सहित यूरोप के तमाम विकसित पूँजीवादी देशों ने इस पर सहमति भी जतायी थी। लेकिन ये सभी साम्राज्यवादी देश भारत सहित एशिया, अफ़्रीका और लैटिन अमेरिका के विकासशील देशों पर लगातार दबाव बनाये रखते हैं ताकि इस अनुच्छेद का कभी प्रयोग ही न हो सके। ज़ाहिर है इस तरह का कोई भी प्रस्ताव, जो साम्राज्यवादियों के हितों के प्रतिकूल हो, कभी भी प्रयोग में आ ही नहीं सकता। 2001 में दक्षिण अफ़्रीका की सरकार ने जब ऐसा करने की कोशिश की थी तो अमेरिका ने दक्षिण अफ़्रीका को आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की धमकी देते हुए "व्यापार निगरानी सूची" में डाल दिया था। ज़ाहिर है कि अमेरिका या कोई भी साम्राज्यवादी देश पूँजीपतियों के मुनाफ़े की रक्षा के लिए कुछ भी कर सकता है।

इस प्रकार साफ़ देखा जा सकता है कि पूँजीवाद के लिए मुनाफ़ा ही एकमात्र मक़सद होता है और पूँजीपति जो भी करते हैं मुनाफ़े के लिए करते हैं। **यह एक खुला रहस्य है कि मुनाफ़े के लिए दवा कम्पनियाँ किसी बीमारी के इलाज की बजाय उसको लम्बा खींचने के लिए पैसा लगाती हैं। दवाओं के दामों में बढ़ोतरी, पेटेण्ट के लिए कुत्ताघसीटी और नये रिसर्च को रोकने जैसी चीज़ें तो बहुत पहले से लगातार होती रही है लेकिन आज के समय में ये अपने नंगे और वीभत्स रूप में सबके सामने हैं।** हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं कि इसका कारण पूँजीपतियों के मुनाफ़े की कभी न मिटने वाली हवस है। शुरुआती कुछ समय को छोड़ दिया जाये तो पूरे इतिहास में पूँजीवाद और पूँजीपति वर्ग एक परजीवी की तरह समाज से चिपटा रहा है जो समाज का ख़ून चूसकर ज़िन्दा रहता है और बदले में बीमारी के अलावा कुछ नहीं देता।

इसके बरक्स हम अगर समाजवादी रूस और चीन के उदाहरण देखें तो हम पायेंगे कि योजनाबद्ध समाजवादी अर्थव्यवस्था के द्वारा किसी भी अन्य क्षेत्र के साथ ही चिकित्सा विज्ञान और जन स्वास्थ्य में भी अद्भुत चमत्कार किये जा सकते हैं। इन देशों के उदाहरणों से सिद्ध होता है कि अगर हम मुनाफ़े की बजाय इलाज पर ध्यान केन्द्रित करें तो क्या कुछ नहीं हासिल किया जा सकता। लेकिन उसके लिए ज़रूरी है कि गली-सड़ी हुई इस परजीवी व्यवस्था को उखाड़ फेंका जाये और समता पर आधारित मेहनतकश के लोक स्वराज यानी समाजवादी व्यवस्था का निर्माण किया जाये। समाजवाद में मुनाफ़े पर टिकी कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण करके उनको मेहनतकश वर्ग के नियंत्रण में कर दिया जायेगा। मानवीय मूल्यों पर आधारित चिकित्सा व्यवसाय और रिसर्च को पूँजी के चंगुल से छुड़ा कर मुक्त कर दिया जायेगा। तब विज्ञान की अन्य धाराओं की तरह चिकित्सा विज्ञान भी किसी के मुनाफ़े का ग़ुलाम न रहकर मानव का सेवक बन जायेगा।

(मज़दूर बिगुल, जनवरी 2016 से)

बन्द होती सार्वजनिक क्षेत्र की दवा कम्पनियाँ सरकार की मजबूरी या साज़िश?

– डॉ. नवमीत

किसी भी देश में सरकार से अपेक्षा की जाती है कि वह उस देश की जनता के पोषण, स्वास्थ्य और जीवन स्तर का ख़याल रखे। सिर्फ़ भारत ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया की सरकारें लोगों के स्वास्थ्य का ख़याल रखने का दिखावा करती रही हैं। लेकिन पिछले कुछ सालों से यह दिखावा भी बन्द होने लगा है। ख़ासतौर पर 1990 के दशक के बाद से सरकारें बेशर्मी के साथ जनता के हितों को रद्दी की टोकरी में फेंकती जा रही हैं। पिछले 20 साल में तो इस बेशर्मी में सुरसा के मुँह की तरह इज़ाफ़ा हुआ है और यह इज़ाफ़ा लगातार अधिक होता जा रहा है।

बहरहाल 1978 में विकसित और विकासशील देशों के बीच और साथ ही देशों के अन्दर भी, लोगों के स्वास्थ्य की असमान स्थिति के मद्देनज़र सोवियत संघ के "अल्मा अता" में दुनिया के तमाम देशों की एक कान्फ्रेंस हुई थी जिसमें घोषणा की गयी थी कि यह असमान स्थिति राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक तौर पर अस्वीकार्य है, इसलिए इस कान्फ्रेंस में 2000 ईस्वी तक सभी के लिए स्वास्थ्य उपलब्ध कराने का संकल्प लिया गया था। फिर 1981 में हुई 34वीं विश्व स्वास्थ्य सभा में इस लक्ष्य को पाने के लिए "सबके लिए स्वास्थ्य" की वैश्विक रणनीति बनायी गयी थी। भारत सरकार ने भी ज़ोर-शोर से यह लक्ष्य पाने की घोषणा की थी। मौजूदा हालात ऐसे हैं कि यह लक्ष्य अगले 100 साल में भी पूरा होता नहीं दिख रहा। आइए देखते हैं सरकार इस लक्ष्य को पाने के लिए क्या क़दम उठा रही है।

स्वास्थ्य सेवाओं का मतलब सिर्फ़ बीमारियों से बचाव ही नहीं होता बल्कि बीमारियों का इलाज भी होता है। इलाज के लिए दवाओं की ज़रूरत होती है। सरकार ये दवाएँ या तो प्राइवेट दवा कम्पनियों से ख़रीदती है या फिर सार्वजनिक क्षेत्र की दवा कम्पनियों से। 1978 में राजस्थान में इण्डियन ड्रग्स एण्ड फ़ार्मास्यूटिकल्स लिमिटेड (IDPL), और राजस्थान राज्य औद्योगिक विकास और निवेश कॉरपोरेशन के संयुक्त तत्वावधान में "राजस्थान ड्रग्स एण्ड फ़ार्मास्युटिकल्स लिमिटेड" (RDPL) नामक एक सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी की स्थापना की गयी थी। राजस्थान के मेडिकल और हेल्थ डिपार्टमेण्ट को सस्ती और अच्छी दवाएँ उपलब्ध कराने के लिए इसकी स्थापना की गयी थी ताकि ग़रीब जनता को सही समय पर इलाज मिल सके। 2010 में RDPL को भारत सरकार का उपक्रम बना दिया गया। यह उपक्रम गोलियाँ, कैप्सूल, पाउडर, पीने की दवा, जीवन रक्षक घोल से लेकर आँखों की दवाओं तक बनाता था और दवाओं की क्वालिटी भी बहुत अच्छी होती थी। अब केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने इन दोनों उपक्रमों यानि IDPL और RDPL को बन्द करने का फ़ैसला लिया है। हैरानी की बात ये भी है कि RDPL के कर्मचारियों को तो इस फ़ैसले के बारे में पता ही नहीं था। 150 से ज़्यादा कर्मचारी और उनके परिवारों का भविष्य इस फ़ैसले के कारण अन्धकार में है। इनमें लगभग आधे कर्मचारियों की तो अभी भी कम से कम 20 साल से ज़्यादा की सर्विस बची हुई है। लेकिन मुद्दा सिर्फ़ इन कर्मचारियों का नहीं है। मुद्दा इस देश के लोगों को स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध कराने का भी है। केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने भारत की पहली सार्वजनिक क्षेत्र की दवा कम्पनी बंगाल कैमिकल्स एण्ड फ़ार्मास्युटिकल्स लिमिटेड और हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक्स लिमिटेड की अधिशेष भूमि को भी बेचने का प्रस्ताव रखा है। नीति आयोग तो पहले ही इन दोनों कम्पनियों में सरकार की हिस्सेदारी को बेचने की सिफ़ारिश कर चुका है। इसके पीछे सरकार का "तर्क" है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को बेचने से राष्ट्रीय परिसम्पत्तियों को राष्ट्र के विकास में ज़्यादा बेहतर ढंग से लगाया जा सकेगा। इस तरह से देश की चार बड़ी सरकारी फ़ार्मास्यूटिकल कम्पनियों को ख़त्म किया जा रहा है और वह भी विकास के नाम पर। राजस्थान ड्रग्स एण्ड फ़ार्मास्युटिकल्स लिमिटेड का ही उदाहरण ले लीजिए। 2013 तक यह एक कमाई करने वाली कम्पनी थी। लेकिन अब 3 साल में ही यह घाटे की कम्पनी बन चुकी है। कम्पनी के कर्मचारी कहते हैं कि वे काम करना चाहते हैं और मेहनत की जाये तो कम्पनी को अभी भी सम्भाला जा सकता है। इसके लिए सरकार के पास प्रस्ताव भी अनेक बार भेजा जा चुका है लेकिन सरकार इसको बन्द करने की ज़िद पर अड़ी हुई है। और बात सिर्फ़ मुनाफ़े की नहीं है, असल में बात जनता के स्वास्थ्य से जुडी हुई है लेकिन सरकार को जनता से मतलब था ही कब जो अब होगा?

बहरहाल 2013-14 से कम्पनी घाटे में चल रही है। कर्मचारियों को पिछले कई महीनों से तनख़्वाह तक नहीं दी गयी है। अब सवाल ये उठता है कि 2013 तक मुनाफ़े में चल रही यह कम्पनी एकाएक घाटे में क्यों चली गयी? ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि ख़ुद सरकार ने इस कम्पनी को माल के लिए ऑर्डर देने बन्द कर दिये। 1998 में राज्य सरकार ने फ़ैसला लिया था कि सरकारी अस्पतालों के लिए दवाएँ सिर्फ़ सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों से ही खरीदी जायेंगी। इसमें भी RDPL को वरीयता दी गयी थी क्योंकि इसमें ख़ुद राज्य सरकार की हिस्सेदारी थी। उसके बाद से राज्य सरकार की तरफ़ से हर साल 30 से 40 करोड़ रुपये के ऑर्डर इस यूनिट को मिलते आ रहे थे। 2011 में राजस्थान सरकार ने "राजस्थान मेडिकल सर्विस कारपोरेशन लिमिटेड" के नाम से एक नोडल एजेंसी बनायी थी, और इसके बाद से RDPL से दवाएँ ख़रीदना बन्द कर दिया गया और कॉरपोरेशन अन्य जगहों से, यहाँ तक कि प्राइवेट कम्पनियों से भी, दवाएँ ख़रीदने लगा। इस तरह से RDPL लगातार घाटे में आती चली गयी। यह वह कम्पनी है जो किसी समय अपनी दवाओं की गुणवत्ता के लिए जानी जाती थी। इसके अलावा कम्पनी के पास 9 एकड़ अतिरिक्त ज़मीन भी थी जो भविष्य में इसके विस्तार के लिए काम आनी थी। लेकिन अब कम्पनी के पास ऑर्डर ही नहीं हैं। जहाँ 2011-12 में कम्पनी को 25 करोड़ के ऑर्डर मिले थे वहीं 2014-15 में यह 3 करोड़ रह गया। और अब पिछले साल से तो कम्पनी को ऑर्डर ही नहीं मिला है। कर्मचारी यूनियन के अलावा अनुसूचित जाति और जनजाति वेलफ़ेयर कर्मचारी एसोसिएशन ने भी राज्य और केन्द्र सरकार से अनेक बार अनुरोध किया है कि वे दवाओं की ख़रीद सम्बन्धी अपनी पुरानी नीति को दोबारा लागू करें, लेकिन सरकारों के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी इस कम्पनी को फ़ण्ड देने की घोषणा की थी और कम्पनी ने भी विश्व स्वास्थ्य संगठन की पॉलिसी के तहत काम शुरू कर लिया था कि एकाएक सरकार ने कम्पनी को ही बन्द करने का प्रस्ताव रख दिया।

गत दिसम्बर में कम्पनी को चलाने वाली पाँच सदस्यीय कमेटी ने केन्द्र सरकार से माँग की थी कि कम्पनी को फ़ण्ड्स की तुरन्त ज़रूरत है ताकि कर्मचारियों को तनख़्वाहें दी जा सकें। लेकिन सरकार ने इस माँग को अनसुना कर दिया। पूँजीपतियों और कॉर्पोरेट को छींक आने पर भी पैकेज, लोन और अनुदान देनी वाली सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के इस उपक्रम को कुछ भी देना मुनासिब नहीं समझा। एक तरफ़ तो कम्पनी के कर्मचारियों की नौकरी ख़तरे में है और दूसरी तरफ़ देश की जनता को मिलने वाली सस्ती दवाओं के बन्द होने का संकट। और हमारी सरकारें इस फ़िराक़ में हैं कि किस तरह से पूँजीपतियों के तलवों को ज़्यादा अच्छे से चाट कर साफ़ किया जा सके।

केन्द्र सरकार के फ़ार्मास्युटिकल्स डिपार्टमेण्ट की 2015-16 की रिपोर्ट में बताया गया है कि डिपार्टमेण्ट के अधीन काम करने वाले सार्वजनिक क्षेत्र के पाँच उपक्रमों में से IDPL, HAL और BCPL बहुत बुरी हालत में हैं और इनको पैकेज देने की ज़रूरत है। वहीं RDPL को पहली बार 2013-14 में घाटे का सामना करना पड़ा है। पाँचों में से कर्नाटक एण्टीबायोटिक्स एण्ड फ़ार्मास्युटिकल्स लिमिटेड ही एकमात्र मुनाफ़े वाला उपक्रम है। रिपोर्ट में आगे कहा गया है कि RDPL का विस्तार और आधुनिकीकरण करने की ज़रूरत है। रिपोर्ट के अनुसार यह कम्पनी प्रबन्ध की गुणवत्ता के लिए जानी जाती है और इसकी लेबोरेटरी भी अच्छी तरह से सुसज्जित है। इसके अलावा कम्पनी ISO 9001:2008 सर्टिफ़िकेट और WHO-GMP सर्टिफ़िकेट प्राप्त करने के लिए भी कार्यशील है। कम्पनी अच्छी गुणवत्ता की जीवन रक्षक और अन्य दवाइयाँ बनाने के मामले में नाम कमा चुकी है। यह सिर्फ़ राज्य सरकार को ही नहीं बल्कि केन्द्र सरकार के भी अनेक संस्थानों जैसे रेलवे और ईएसआई को दवा सप्लाई करती रही है। इसके अलावा यह केन्द्र सरकार के प्रोग्राम "जनौषधि", जिसके तहत अच्छी क्वालिटी की जेनेरिक दवाएँ सस्ती दरों पर बनायी जानी हैं, में भी साझीदार है। जब भारत में स्वाइन फ़्लू फैला था तब RDPL ही वह कम्पनी थी जिसने समय पर स्वाइन फ़्लू की दवाएँ बनायी और बहुत कम क़ीमत पर सरकार को उपलब्ध करवायी थी। 2009 में जब स्वाइन फ़्लू का पहला प्रकोप फैला था तब RDPL के कर्मचारियों ने कई-कई शिफ़्टों में काम किया था। 1996 में जब सूरत में प्लेग फैला था तब भी इसी कम्पनी ने दवाएँ उपलब्ध करवायी थीं। लेकिन अब सरकार ने पहले तो इससे दवाएँ बनवाना बन्द कर दिया और अब इसको घाटे का सौदा कह कर बन्द करने जा रही है। क्यों? क्योंकि इस जैसी कम्पनियों के चलने से प्राइवेट कम्पनियों का मुनाफ़ा कम हो जाता है।

IDPL की कहानी भी बिल्कुल इसी तरह की है। किसी समय यह कम्पनी भी पूरे देश के लिए दवाएँ बनाती थी। कई बार तो यह एकमात्र कम्पनी होती थी जो किसी महामारी के समय दवाएँ उपलब्ध करवाती थी। लेकिन अब सरकार ने इसको भी ऑर्डर्स देने बन्द कर दिये हैं। इसके अलावा हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक्स लिमिटेड (HAL) भी ऐसी ही एक सार्वजनिक क्षेत्र की दवा कम्पनी है। इसकी नींव 1954 में पहली एण्टीबायोटिक दवा पेनिसिलिन का आविष्कार करने वाले महान वैज्ञानिक अलेग्जेण्डर फ़्लेमिंग ने रखी थी। तब से ही यह कम्पनी सस्ती दरों पर एण्टीबायोटिक दवाएँ बना रही है। एक प्राइवेट कम्पनी ने सिप्रोफ़्लोक्सासिन नाम की एक एण्टीबायोटिक 35 रुपये प्रति टेबलेट की दर से लॉन्च की थी तो इस कम्पनी ने यही दवा 7 रुपये की दर से उपलब्ध करवायी थी। सार्वजनिक क्षेत्र की यह एकमात्र कम्पनी है जिसने एक सर्वथा नयी दवा हैमाईसिन की खोज की है। 1996 से पहले यह कम्पनी भी सरकारी अस्पतालों को दवा सप्लाई करती थी लेकिन उसके बाद से इसके ऑर्डर भी बन्द कर दिये गये। यहाँ एक रोचक बात बताते चलें। एक बड़ी प्राइवेट दवा कम्पनी डॉ. रेड्डीज़ लेबोरेट्रीज़ का संस्थापक कल्लम अंजी रेड्डी किसी समय IDPL में एक केमिस्ट के तौर पर काम करता था। लेकिन अब हालत ये है कि सरकारी उपेक्षा के चलते IDPL बन्द होने वाली है और डॉ. रेड्डीज़ जैसी प्राइवेट कम्पनियाँ लगातार बड़ी होती जा रही हैं।

साफ़ है कि सरकार सार्वजनिक क्षेत्र की इन सब कम्पनियों को बन्द कर देना चाहती है ताकि प्राइवेट कम्पनियों से महँगी दवा ख़रीदी जा सके। इसका बोझ करों के रूप में देश की जनता पर ही पड़ता है और दूसरा ज़रूरत के हिसाब से दवाएँ भी जनता को उपलब्ध नहीं हो पाती हैं। और **यह मुख्य तौर पर 1990, जबकि भारत में नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत की गयी थी, के बाद से हो रहा है। जनता चाहे दवा-इलाज के अभाव में मरती रहे, सरकारों का सरोकार पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े से होता है।** सरकारों का हर क़दम इसी वर्ग की सेवा में उठता है। आज़ादी के समय हमारे देश का पूँजीपति वर्ग इतना क़ाबिल नहीं था कि वह आपने दम पर इन्फ्रास्ट्रक्चर खड़ा कर सके, इसलिए स्वतंत्र भारत में पूँजीपति वर्ग की पहली प्रतिनिधि सरकार ने उसके लिए देश की जनता के ख़ून-पसीने से सार्वजनिक क्षेत्र खड़ा किया था ताकि समय आने पर इस इन्फ्रास्ट्रक्चर को पूँजीपति वर्ग के हाथ में दिया जा सके। इसके अलावा दशकों पहले जब दुनिया में पूँजीवाद संकट में था, इसके क़िले पर लगातार प्रहार हो रहे थे और दुनियाभर की जनता अपने अधिकारों के लिए पूँजीवादी सरकारों का गला पकड़ कर हिला रही थी, तब पूँजीपति वर्ग के मसीहा के तौर पर जान मेनार्ड कीन्स ने कल्याणकारी राज्य का नुस्ख़ा सुझाया था ताकि जनता के ग़ुस्से को कुछ सुविधाएँ देकर ठण्डा किया जा सके। इस तरह से भारत में भी कल्याणकारी राज्य और सार्वजनिक क्षेत्र का झुनझुना जनता को थमाया गया

(पेज 27 पर जारी)

क्रान्तिकारी चीन में स्वास्थ्य प्रणाली

हर देश में स्वास्थ्य का अधिकार जनता का सबसे बुनियादी अधिकार होता है। यूँ तो हमारे देश के संविधान का अनुच्छेद 21 कहता है कि "कोई भी व्यक्ति अपने जीवन से वंचित नहीं किया जा सकता"। लेकिन सभी जानते हैं कि भारत में स्वास्थ्य सेवाओं के अभाव में रोज़ाना हज़ारों लोग अपनी जान गँवा देते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन की 2011 की रिपोर्ट के अनुसार 70 फ़ीसदी भारतीय अपनी आय का बड़ा हिस्सा दवा-इलाज पर ख़र्च करते हैं। मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था ने हर मानवीय सेवा को बाज़ार के हवाले कर दिया है, जानबूझकर जर्जर और ख़स्ताहाल की गयी स्वास्थ्य सेवा को बेहतर करने के नाम पर सभी पूँजीवादी चुनावी पार्टियाँ निजीकरण व बाज़ारीकरण पर एक राय हैं। महाशक्ति होने का दम भरने वाली भारत सरकार अपनी जनता को सस्ती और सुलभ स्वास्थ्य सेवा भी उपलब्ध नहीं कर सकती है। ऐसे में पड़ोसी मुल्क चीन के क्रान्तिकारी दौर (1949-76) की चर्चा करेंगे, जब मेहनतकश जनता के बूते बेहद पिछड़े और बेहद कम संसाधनों वाले "एशिया के बीमार देश" ने स्वास्थ्य सेवा में चमत्कारी परिवर्तन किया, साथ ही स्वास्थ्यकर्मियों और जनता के आपसी सम्बन्ध को भी उन्नत स्तर पर ले जाने का प्रयास किया। आज का पूँजीवाद चीन भारी पूँजीनिवेश और सख़्त नौकरशाहाना तरीक़ों के दम पर कोरोना के नियंत्रण आदि के काम कर ले रहा है, पर बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी उस सुलभ और मानवीय चिकित्सा सेवा से वंचित हो गयी है जो समाजवाद ने उन्हें कम संसाधनों में भी उपलब्ध करायी थी। डॉ. विक्टर सिडेल और डॉ. रुथ सिडेल की पुस्तक 'सर्व दि पीपल' के एक लेख के आधार पर एक अनुभवी चिकित्सक का लिखा यह लेख चीन में हुए स्वास्थ्य सेवा ओं में क्रान्तिकारी बदलावों की एक झलक पेश करता है। – सम्पादक

– डॉ. ऋषि

1949 में क्रान्ति के बाद से ही चीन में स्वास्थ्य सेवाओं में लगातार प्रगति हुई। महान सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान अन्य और क्षेत्रों की तरह ही स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी अद्वितीय प्रयोग किये गये। एक नये प्रकार की स्वास्थ्य सेवा विकसित की गयी और इसकी पहुँच शहरों से लेकर दुर्गम पहाड़ी क्षेत्रों तक विस्तारित की गयी। सामूहिकता और कम्युनिस्ट पार्टी का इसमें बहुत महत्वपूर्ण योगदान था। चीनी चिकित्सा पद्धति और आधुनिक चिकित्सा पद्धति के समन्वय के लिए और साथ ही साथ चिकित्सा शिक्षा (medical education) की समाजवादी प्रणाली विकसित करने के लिए उल्लेखनीय प्रयोग किये गये। नौकरशाही का रोल और दूसरे क्षेत्रों की तरह ही स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी काफ़ी हद तक कम किया गया।

क्रान्ति-पूर्व चीन में स्वास्थ्य की स्थिति

चीन को 20वी सदी के पूर्वार्ध में "एशिया का बीमार आदमी" की उपाधि मिली हुई थी। देश लगभग हर प्रकार की संक्रामक और कुपोषण-जनित बीमारियों से ग्रसित था। बैक्टीरिया से होने वाली बीमारियों में हैज़ा, कुष्ठ रोग, प्लेग, दिमाग़ी बुख़ार, टी.बी., टायफ़ाईड इत्यादि प्रमुख थे। वायरस से होने वाली बीमारियाँ चेचक, जापानी बुख़ार और ट्रेकोमा थी। परजीवियों से होने वाली बीमारियाँ काला-बुख़ार, मलेरिया, हुक-वर्म और शिस्तोसोमिअसिस इत्यादि थीं। यौन रोग बड़े पैमाने पर फैले थे। कुपोषण से सम्बन्धित बीमारियों में लगभग हर प्रकार की बीमारियाँ जैसे कि क्वाशिओर्कर (kwashiorkor) और सूखा रोग (marasmus) व विटामिन की कमी से होने वाली बीमारियाँ जैसे कि बेरी-बेरी, पैलेग्रा, स्कर्वी और रिकेट्स बड़े पैमाने पर व्याप्त थीं। "कुपोषण" एक तरह से भुखमरी का ही दूसरा नाम था। शिशु मृत्यु दर (प्रति 1000 जन्म) लगभग 200 थी। यानी हर पाँच में से एक बच्चा अपने जन्म के प्रथम वर्ष में मरने को अभिशप्त था। बीमारियों के होने का एक मुख्य कारण व्यापक पैमाने पर मौजूद भयंकर ग़रीबी थी और ग़रीबी का एक मुख्य कारण मज़दूरों और किसानों के श्रम की औपनिवेशिक ताक़तों व व्यापारियों के द्वारा जारी नंगी लूट थी। ग़रीबी की इन परिस्थितियों में स्वास्थ्य सेवाएँ (अगर संसाधन पर्याप्त मात्रा में होते भी) थोडा-बहुत फ़र्क़ ही डाल सकती थीं। लेकिन स्वास्थ्यकर्मियों और संसाधनों की भयंकर कमी और अनुपलब्धता इस समस्या को और भी जटिल बना देती थी।

क्रान्ति-पूर्व चीन में स्वास्थ्यकर्मियों व संसाधनों की स्थिति

चीन में मुख्यतः दो तरह के स्वास्थ्यकर्मी होते थे। एक वे जो पारम्परिक चीनी पद्धति का अनुसरण करते थे और दूसरे वे जो आधुनिक चिकित्सा पद्धति का। पारम्परिक डॉक्टरों का इतिहास 2,000 साल से भी अधिक पुराना है जबकि आधुनिक डॉक्टर पहले यूरोपियन देशों से पढ़कर आते थे और बाद में चीन के मेडिकल कालेजों से ही आने लगे। चीन में वर्ष 1949 में, एक अनुमान के मुताबिक, पारम्परिक चीनी पद्धति के डॉक्टरों की संख्या पाँच लाख से ज़्यादा नहीं थी। इसी तरह आधुनिक पद्धति के डॉक्टरों और जनसँख्या का अनुपात 1:50,000 से 1:13000 के बीच में था। ग़ौरतलब बात यह है कि उस समय अमेरिका में यह अनुपात 1:750 था। चीन को उस अनुपात तक पहुँचने के लिए क़रीब सात लाख डॉक्टरों की ज़रूरत पड़ती। हालाँकि 1949 से पहले भी आधुनिक डॉक्टरों की संख्या बढ़ाने की कोशिशें हुई थीं, लेकिन ज़्यादातर प्रयास डॉक्टरों के प्रशिक्षण को अमरीकी या यूरोपियन मॉडल पर आधारित रखकर किये गये। इसी तरह अस्पतालों की संख्या बहुत कम और हालात ख़स्ता थे। एक अनुमान के मुताबिक़, चीन के अस्पतालों में 1949 में लगभग कुल 90,000 बेड थे। चीन को अमेरिका के उस समय के स्तर पर पहुँचने के लिए लगभग 50 लाख बेड चाहिए थे। उस पर भी ज़्यादातर आधुनिक डॉक्टर और स्वास्थ्य सुविधाएँ का शहरों में ही केन्द्रित रहना समस्या को और भी जटिल बना देता था।

संक्षेप में कहे तो चीन के ग्रामीण इलाक़ों की भारी आबादी और शहरी ग़रीबों की बहुसंख्या को मिलने वाली स्वास्थ्य सेवाएँ सिर्फ़ वे थीं जो कि पारम्परिक डॉक्टरों (जिनमें से काफ़ी पूरी तरह पारंगत भी नहीं थे) द्वारा दी जाती थी। रोग निरोधक(Preventive) चिकित्सा का कोई नामो-निशान नहीं था और ज़्यादातर लोग ग़रीबी, बीमारी और अपंगता (disability) के अनन्त और अवश्यम्भावी कुचक्र में फँसे रहने को अभिशप्त थे।

1949 की 'नवजनवादी क्रान्ति' के बाद और 'सांस्कृतिक क्रान्ति' के पहले स्वास्थ्य की स्थिति

इन सब हालात को देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि माओ ने 1930 के दशक से ही स्वास्थ्य सेवाओं को चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और जनमुक्ति सेना की प्राथमिकता-सूची में काफ़ी ऊपर रखा हुआ था। प्रत्येक गाँव के कोमिनतांग या जापान के चंगुल से 'मुक्त' होते ही शुरुआती काम भूमि-सुधार, किसानों को संगठित करना और स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करना होता था। 1949 में कम्युनिस्ट पार्टी के सत्ता सँभालने के बाद भी स्वास्थ्य सेवाओं की प्राथमिकता पहले की तरह ही बनी रही। 1950 के दशक के शुरुआती वर्षों में पीकिंग में आयोजित 'नेशनल हेल्थ कांग्रेस' में अपनाये गये उसूलों और माओ के दिशा-निर्देशों के संयोजन से स्वास्थ्य सेवाओं के विकास का विचाराधात्मक आधार तैयार हुआ। ये विचार थे :

1. चिकित्सा विज्ञान को श्रमिकों (मज़दूरों, किसानों और सिपाहियों) की सेवा के लिए होना चाहिए।

2. बीमारी की पहले ही रोकथाम करने वाली चिकित्सा को रोग निवारक (इलाज करने वाली) चिकित्सा के मुक़ाबले प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

3. पारम्परिक डॉक्टरों और आधुनिक डॉक्टरों को एक दूसरे के साथ जोड़ा जाना चाहिए।

4. स्वास्थ्य से सम्बन्धित कामों को जन-आन्दोलनों से जोड़ा जाना चाहिए।

इसके बाद के 15 सालों में – 1950 से 1965 तक – चीन के 60 करोड़ लोगों के स्वास्थ्य और राज्य की स्वास्थ्य सेवाओं में बहुत बड़े बदलाव लाये गये जो कि अपनी गति और पहुँच में इतिहास में शायद अद्वितीय थे। हैजा, प्लेग, चेचक और पोषण से सम्बन्धित ज़्यादातर बीमारियाँ लगभग ख़त्म हो गयीं; अफ़ीम की लत का सामुदायिक सहयोग से निर्मूलन किया गया; यौन रोगों में थोडा ज़्यादा समय लगा लेकिन वे भी सामाजिक और चिकित्सकीय तकनीकों के संयोजन से 1960 के दशक के शुरुआती वर्षों तक ख़त्म कर दिये गये।

"महान देशभक्तपूर्ण स्वास्थ्य आन्दोलन" के द्वारा लोगों को फसलों को नुक्सान पहुँचाने वाले और बीमारी फैलाने वाले चार कीटों (मक्खियाँ, मच्छर, चूहें और गौरैया – बाद में गौरैया की जगह खटमल को शामिल किया गया) के खिलाफ़ गोलबनद किया गया। कह सकते हैं कि "लोगों की पुरानी आदतें और रीति-रिवाज़ बदल दिये गये", "समाज का नव-निर्माण किया गया" और "स्वच्छता को सम्मान मानने का नज़रिया लोगों के भीतर अपनी जगह बनाने लगा"।

स्वास्थ्यकर्मियों को बड़ी तेज़ी से प्रशिक्षित किया जाने लगा। ओर्लीन्स के मुताबिक़, 1966 के अन्त तक चीन में लगभग डेढ़ लाख आधुनिक डॉक्टर थे – यह 20 सालों में एक लाख डॉक्टरों की बढ़ोतरी थी! अगर 1966 में चीन की जनसंख्या 72.5 करोड़ मानी जाये तो डॉक्टर और जनसंख्या का अनुपात 1:5000 था जो कि पश्चिमी देशों (अमेरिका में 1:750)के मुकाबले अपर्याप्त है। इसके अलावा ये डॉक्टर अभी भी मुख्यतः शहरों में ही केन्द्रित थे यद्यपि नये डॉक्टरों को ग्रामीण इलाक़ों में भेजने की कोशिशें की जा रही थी। स्वास्थ्य मंत्रालय की 1965 की एक रिपोर्ट के अनुसार, 1963 के बैच के 25000 डॉक्टरों में से ज़्यादातर को काउण्टी अस्पतालों और खनन कम्पनियों में भेजा जा चुका था।

स्वास्थ्यकर्मियों की बढ़ती संख्या का एक स्रोत सेकण्डरी मेडिकल स्कूलों का विकास था, हालाँकि इनका विकास भी सोवियत मॉडल पर ही आधारित था।

'बेयरफ़ुट डॉक्टरों' की एक टीम सुदूर पहाड़ी इलाक़े में जाती हुई

(पेज 26 पर जारी)

क्रान्तिकारी चीन में स्वास्थ्य प्रणाली

(पेज 25 से आगे)

एक अनुमान के अनुसार 1957 में ऐसे स्कूल 170, 1964 में 200 और 1965 में 230 की संख्या में थे। इन स्कूलों में बड़ी संख्या में सहायक डॉक्टर, नर्सें, मिड-वाईफ़, फ़ार्मासिस्ट, रेडियोलॉजी और लेबोरेटरी टैक्नीशियन प्रशिक्षित किये गये। ओर्लीन्स के अनुसार, 1966 में चीन में लगभग 1,72,000 असिस्टेण्ट डॉक्टर, 1,86,000 नर्सें, 42,000 मिड-वाईफ़ और 1,00,000 फ़ार्मासिस्ट थे।

'नव जनवादी क्रान्ति से लेकर सांस्कृतिक क्रान्ति' के बीच के समय में पारम्परिक चीनी डॉक्टरों और आधुनिक डॉक्टरों को एकीकृत करने के बहुत प्रयास किये गये लेकिन वे बहुत ज़्यादा फलदायक साबित नहीं हुए। 1966 में 21 पारम्परिक चीनी मेडिकल कालेजों में 10,000 छात्र थे। लेकिन कुल मिलाकर पारम्परिक डॉक्टरों की संख्या में पहले के मुक़ाबले कोई ख़ास परिवर्तन नहीं हुआ। 1965 में उनकी कुल संख्या 5,00,000 थी जोकि 1949 में उनकी संख्या के बराबर ही थी।

तालिका–1 में 1966 में सांस्कृतिक क्रान्ति के शुरू होने के समय चीन के स्वास्थ्य-कर्मियों की संख्या और अनुपातों का विवरण है। ये संख्या और अनुपात पश्चिमी देशों के मुक़ाबले अभी भी कम थे लेकिन अगर इनकी तुलना 15 साल पुराने आँकड़ों से की जाये तो इतने कम समय में इतनी वृद्धि को आश्चर्यजनक ही कहा जायेगा।

लगभग इतनी ही तेज़ गति से स्वास्थ्य सुविधाओं में बढ़ोतरी हुई। ऍफ़. एवरी जोन्स के मुताबिक़ 1949 और 1957 के बीच में 860 नये अस्पताल बनाए गये जिनमे प्रति अस्पताल औसतन 350 बेड थे। इसका मतलब यह हुआ कि चीन में इन आठ सालों में हर 3.5 दिन में एक नया अस्पताल बना और कुल लगभग तीन लाख बेड उपलब्ध हुए। 1971 में कनाडा के दौरे पर गये चीनी डॉक्टरों के एक दल ने बताया कि 1949 से 1965 के बीच अस्पतालों में बेड की संख्या आठ गुना बढ़ गयी। इसका मतलब यह हुआ कि 1957 से 1965 के बीच बेडों की संख्या में लगभग चार लाख की अतिरिक्त वृद्धि हुई। जून 1965 में स्वास्थ्य मंत्रालय के एक अधिकारी ने बड़े गर्व से बताया कि चीन की हर एक काउण्टी(ज़िले) में एक अस्पताल है।

हालाँकि टेक्नोलोजी पश्चिमी देशों के मुक़ाबले काफ़ी पीछे थी, लेकिन यह तेज़ गति से प्रगति कर रही थी। दवा उद्योगों ने अपने सोवियत साथियों को भी पीछे छोड़ दिया था। कटे हुए अंगों के प्रत्यारोपण और बुरी तरह जले मरीजों का इलाज करने जैसे कठिन और विशेषज्ञता वाले क्षेत्रों में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। यहाँ पर भी स्वास्थ्यकर्मियों के टीमवर्क और मरीज़ों को अपनी बीमारी से लड़ने के लिए प्रोत्साहित करने के महत्त्व पर ज़ोर दिया गया। मौलिक अनुसन्धान सीमित थे लेकिन सफल तरीक़ों से इस्तेमाल किये जा रहे था। 1965 में इन्सुलिन का कृत्रिम तरीक़े से उत्पादन इसका एक उदाहरण है। काफ़ी हद तक क्लीनिकल रिसर्च भी जारी थी। कुल मिलकर 1965 के अन्त तक ऐसा प्रतीत हो रहा था की एक समाजोन्मुख, रोकथाम पर बल देने वाली ठीकठाक स्वास्थ्य व्यवस्था विकसित हो गयी है। हालाँकि चीन की सभी ज़रूरतें पूरी करने के लिए एक लम्बा रास्ता तय करना था, लेकिन सेवाओं की गुणवत्ता और उनके वितरण और आम जनता के स्वास्थ्य में उल्लेखनीय इज़ाफ़ा हो चुका था।

तालिका 1

कर्मचारी का प्रकार	संख्या	जनसंख्या : स्वास्थ्यकर्मी	स्वास्थ्यकर्मी : 1,00,000 जनसंख्या
पश्चिमी चिकित्सा स्कूल के स्नातक			
उच्चतर मेडिकल स्कूल			
1. चिकित्सक	1,50,000	4,800	21
2. दंत चिकित्सक	30,000	24,000	4
3. औषध विज्ञानी	20,000	36,000	3
सेकण्डरी मेडिकल स्कूल			
1. सहायक चिकित्सक	1,70,000	4,300	23
2. नर्सें	1,85,000	3,900	26
3. दाइयाँ	40,000	18,000	6
4. फ़ार्मासिस्ट	1,00,000	7,300	14
पारम्परिक चीनी चिकित्सा पद्धति के अभ्यासकर्मी	5,00,000	1,500	69

सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रभाव

संक्षेप में, बाहरी प्रेक्षकों और शायद उस समय के कई चीनी नेताओं को भी यह लगा कि स्वास्थ्य मंत्रालय ने अपनी ज़िम्मेदारी का काफ़ी अच्छी तरह से निर्वहन किया है। ख़ासकर अगर यह ध्यान में रखा जाए कि उसकी शुरुआत किस बिन्दु से हुई थी और उसके पास काम के हिसाब से संसाधनों की भारी कमी थी। लेकिन 1965 में माओ और उनकी 'जनदिशा' को मानने वाले अन्य लोगों के अनुसार मंत्रालय कई मुख्य क्षेत्रों में अपने उद्देश्य प्राप्त करने में विफल रहा था।

1. ग्रामीण इलाक़ों में अतिरिक्त संसाधनों को प्रदान करने के महत्त्व को पहचानने के बावजूद शहरी क्षेत्रों ने सीमित संसाधनों का ज़्यादा बड़ा हिस्सा प्राप्त किया।

2. रोगों की रोकथाम पर ज़ोर देने वाली चिकित्सा का महत्व पहचानने और कई प्रोग्रामों के सफल होने के बावजूद रिसर्च, प्रशिक्षण और स्वास्थ्य सेवाओं में रोग निरोधक चिकित्सा के बजाये रोगनिवारक (इलाज पर ज़ोर देने वाली) चिकित्सा पर ज़्यादा ध्यान दिया गया।

3. पारम्परिक चीनी पद्धति और आधुनिक पद्धति के एकीकरण के महत्त्व को पहचानने के बावजूद और इसमें कुछ हद तक सफलता मिलने के बावजूद पारम्परिक पद्धति पर कम ध्यान दिया गया और इसका स्तर आधुनिक पद्धति से नीचे माना गया।

4. अन्य देशों से लायी गयी तकनीक में चीन की विशेष परिस्थितियों के अनुसार बदलाव लाने, न कि उसे ज्यों का त्यों स्वीकार करने के महत्त्व को पहचानने के बावजूद चिकित्सा शिक्षा, जन-स्वास्थ्य और स्वास्थ्य सेवाओं के प्रशासन के मॉडलों में सीधे सोवियत यूनियन की नक़ल की गयी।

5. सामूहिक नेतृत्व और नीतियाँ लागू करने में 'दिशानिर्देश' वाली पद्धति के बजाय शिक्षा और प्रोत्साहन के महत्त्व को पहचानने के बावजूद एक पद सोपान वाली प्रबन्धन संरचना विकसित हो गयी है जिसका शीर्ष स्तर नीचे से दिये गये सुझावों और आलोचनाओं को काफ़ी हद तक अनसुना करता है।

6. संसाधन सीमित होने के बावजूद समाज में प्रत्येक व्यक्ति की उन तक पहुँच है, इस बात का त्वरित आश्वासन देने के महत्त्व को पहचानने के बावजूद जो कुछ उपलब्ध था, उसे सबको सुलभ बनाने के बजाय 'मानक ऊपर करने' पर ज़्यादा ज़ोर दिया गया।

7. आख़िर में और शायद माओ और उनके साथियों की नज़रों में सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण बात कि मैनेजरों को आम जनता के सम्पर्क में रहने और मानसिक श्रम को शारीरिक श्रम से ज़्यादा महत्त्व देने की परम्परा को तोड़ने के महत्त्व को जानने के बावजूद इन माओवादी उसूलों का पालन करने की बजाय उन्हें तोड़ा ज़्यादा गया।

माओ त्से-तुंग ने 26 जून 1965 में स्वास्थ्य मंत्रालय की आलोचना करते हुए एक वक्तव्य दिया। माओ ने कहा कि "स्वास्थ्य मंत्रालय देश की सिर्फ़ 15% आबादी को सेवाएँ प्रदान करता है" और "इस मंत्रालय का नाम बदलकर 'शहरी स्वास्थ्य मंत्रालय' रख देना चाहिए।" सह टिप्पणी काफ़ी लोकप्रिय हुई। इस वक्तव्य का आख़िरी वाक्य – "चिकित्सा और स्वास्थ्य के काम में ग्रामीण इलाक़ों पर ज़्यादा ज़ोर दो" - बड़े पैमाने पर प्रकाशित हुआ और 'जून 26 निर्देश' के नाम से जाना गया। **अपने इस वक्तव्य में माओ ने कई नुस्ख़े दिये :**

- मेडिकल शिक्षा पर : स्कूली शिक्षा के बाद मेडिकल स्कूल में तीन साल काफ़ी हैं। मेडिकल स्कूल के बाद छात्रों को लगातार प्रैक्टिस के माध्यम से अपनी दक्षता में सुधार लाना चाहिए।

- मेडिकल रिसर्च पर : चोटी की समस्याओं – बहुत जटिल और लगभग असाध्य रोगों – पर कम और जनता के लिए सबसे ज़्यादा ज़रूरी – आम बीमारियों से बचाव और उनके इलाज – पर ज़्यादा व्यक्तियों और संसाधनों को लगाना चाहिए।

- मेडिकल सेवाओं पर : सभी डॉक्टरों, सिवाय उनके जो बहुत दक्ष नहीं हैं, को प्रैक्टिस के लिए गाँवों में जाना चाहिए।

1965 में सांस्कृतिक क्रान्ति शुरू होने के बाद माओ द्वारा तय की गयी लाइन को लागू करने के लिए हर सम्भव प्रयास किये गये। स्वास्थ्य मंत्रालय और चीनी मेडिकल एसोसिएशन को "संघर्ष, आलोचना और बदलाव" का संघर्ष-केन्द्र बनाया गया। इस दौरान मेडिकल स्कूलों में कोई नयी कक्षा शुरू नहीं की गयी और पहले से पढ़ रहे मेडिकल छात्रों को व्याहारिक प्रशिक्षण देकर गाँवों में भेज दिया गया। मेडिकल स्कूलों के फ़ैकल्टी सदस्यों, शोधकर्ताओं और अन्य दूसरे शहरी स्वास्थ्यकर्मियों को भी एक निश्चित समय के लिए ग्रामीण इलाक़ों में भेजा जाता था। वहाँ वे मेडिकल कार्य जैसे कि 'बेयरफ़ुट डॉक्टरों' की ट्रेनिंग, मेडिकल और रोगों की रोकथाम सेवाएँ और किसानों को स्वास्थ्य सेवा भूमिका निभाने के लिए गोलबन्द करने के साथ-साथ शारीरिक श्रम भी करते थे। शहरी स्वास्थ्यकर्मियों को या तो निश्चित स्थानों – जैसे काउण्टी अस्पताल और कम्यून अस्पताल या फिर "सचल मेडिकल टीमों" में तैनात किया गया। किसी भी समय हर शहरी अस्पताल का कम से कम एक तिहाई स्टाफ़ गाँवों में होता था। वे छह से लेकर एक साल तक का समय वहाँ बिताते थे और अपने परिवारजनों से मिलने साल में दो बार जा सकते थे। अगर वे और भी ज़्यादा समय वहाँ बिताना चाहते थे तो अपने परिवार को भी साथ रख सकते थे; कहा जाता है कि कुछ शहरी डॉक्टर तो स्थायी रूप से गाँवों में बस भी गये थे।

गाँवों में भेजने का एक और कारण जो दिया गया, वह था कि शहरी डॉक्टर, मेडिकल स्कूलों के टीचर और शोधकर्ता कठिन परिश्रम और किसानों के सम्पर्क के माध्यम से "पुनर्शिक्षित" किये जायें। जो लोग गाँवों में रहे थे, वे बताते थे कि कैसे उन्हें किसानों की कठिन ज़िन्दगी का अन्दाज़ा नहीं था और कैसे किसानों की ज़रूरतों को समझने की वजह से अब उनमे मेडिकल सेवा के प्रति प्रतिबद्धता और बढ़ गयी है। हालाँकि 1965 से पहले भी "सहायकों" के विकास के प्रयास हुए थे लेकिन 'सांस्कृतिक क्रान्ति' के दौरान एक नये तरह के स्वास्थ्यकर्मियों का निर्माण हुआ जो कि "रेगुलर" डॉक्टरों और अन्य दूसरे स्वास्थ्यकर्मियों से बहुत अलग थे। इन नये स्वास्थ्यकर्मियों को आँकड़ों में मेडिकलकर्मी नहीं माना जाता था। उनकी गिनती कृषि श्रमिक (बेयरफुट डॉक्टर), उत्पादन श्रमिक (श्रमिक डॉक्टर) या गृहिणी और सेवानिवृत्त लोगों (रेड मेडिकल वर्कर) के तौर पर होती थी और वे भी ख़ुद को यही मानते थे।

इसके अलावा स्वास्थ्य सेवाओं के संगठन में बड़े बदलाव किये गये। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा मुद्दा 1949 के बाद से एक कुलीन मैनेजर और बुद्धिजीवी तबक़े का विकास होना था जिसे माओ और उनके साथी एक प्रतिक्रान्ति झुकाव (trend) मानते थे। 1971 में और संगठनों की तरह ही स्वास्थ्य संगठनों का नेतृत्व भी 'रिवोल्यूशनरी कमेटियों" के हाथों में आ चुका था। इन कमेटियों में जन मुक्ति सेना के प्रतिनिधि, कैडर सदस्य और स्वास्थ्यकर्मियों के प्रतिनिधि 'थ्री-इन-वन' के अनुपात में होते थे।

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान वेतन, हैसियत और मेडिकलकर्मियों के विभिन्न संस्तरों के बीच के अन्तर को कम किया गया। सांस्कृतिक क्रान्ति से पहले सोवियत मॉडल का अनुसरण करने की वज़ह से अलग-अलग मेडिकल-कर्मियों के वेतन में और सीनियर मेडिकल-कर्मियों और समाज के अन्य लोगों के वेतन में काफ़ी ज़्यादा अन्तर आना शुरू हो गया था। इस क्रान्ति का एक नतीजा यह हुआ कि यह निर्णय लिया गया कि ऊपरी छोर की तनख़्वाहें तब तक के लिए 'फ़्रीज' कर दी जायें, जब तक कि निचले छोर की तनख्वाहें बढ़ कर उनके बराबर नहीं हो जाती। जहाँ तक हैसियत और रोल का सवाल है तो ऐसी कोशिशें की गयीं ताकि स्वास्थ्यकर्मियों के बीच परस्पर बातचीत और तालमेल को बढ़ाया जा सके। उदाहरण के लिए, नर्सों ने इलाज की निर्णय-प्रक्रिया में ज़्यादा रोल निभाना शुरू कर दिया और डॉक्टरों के द्वारा नर्सों और दूसरे स्वास्थ्यकर्मियों वाले काम भी किये जाने लगे। इस सबके पीछे उद्देश्य यह था कि स्वास्थ्य संगठनों में व्याप्त पदसोपान वाली संरचना को तोड़ा जाये और एक ऐसी व्यवस्था निर्मित की जाये जिसमे मरीज़ों की भलाई के लिए सभी कर्मी प्रभावी रूप से काम कर सकें।

1971 के अन्त तक मेडिकल स्कूलों में पाठ्यक्रम काफ़ी छोटा हो गया था और उसमें भी ज़्यादा ज़ोर सिद्धान्त के बजाय व्यवहार पर होता था। मेडिकल के छात्र केवल शैक्षणिक आधार पर नहीं चुने जाते थे। यह माना गया कि इस प्रक्रिया से एक कुलीन बुद्धिजीवी तबक़ा पैदा हो रहा था। इसके बजाय उन्हें साथी कर्मियों और किसानों की सिफ़ारिशों (जोकि ख़ुद छात्रों के रवैये और विचारधारा पर आधारित होती थीं) को भी ध्यान में रखकर चुना जाता था। ●

आज मनुष्यता को समाजवादी चिकित्सा व्यवस्था की ज़रूरत है!

(पेज 20 से आगे)

गाँव व दूरदराज़ के इलाक़ों तक स्वास्थ्य सुविधाओं को ले जाने वाले स्वास्थ्यकर्मियों की एक पूरी फ़ौज खड़ी की गयी थी जिसमें बड़ी संख्या में छात्रों-युवाओं और विशेष रूप से लड़कियों को शामिल किया गया था। 'बेयरफ़ुट यानी नंगे पाँव डॉक्टर' कहे जाने वाले इन स्वास्थ्यकर्मियों को तीन से छह महीने का बुनियादी मेडिकल और पैरामेडिकल प्रशिक्षण दिया जाता था। ये स्वास्थ्यकर्मी उपचार से ज़्यादा रोकथाम पर ज़ोर देते थे। वे टीके लगाने, इम्युनाइज़ेशन करने, शिशु का जन्म कराने व अन्य प्राथमिक उपचार करने में प्रशिक्षित थे। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली व औषधियों के साथ ही साथ वे एक्युपंक्चर व मॉक्सीबशन जैसी चीन की पारम्परिक चिकित्सा प्रणाली व औषधियों का प्रयोग करते थे। गम्भीर रोगों से ग्रस्त मरीज़ों को वे काउण्टी के अस्पताल में भेजते थे। 1970 के दशक में चीन के स्वास्थ्य कार्यक्रम को विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी स्वीकार किया था और दुनिया के अन्य हिस्सों में इस तरह के स्वास्थ्य कार्यक्रम को बढ़ावा देने का अनुमोदन किया था।

चिकित्सा के क्षेत्र में सोवियत संघ और चीन में समाजवादी दौर में किये गये प्रयोगों के अतिरिक्त क्यूबा में किये गये प्रयोग का भी विशेष रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए। क्यूबा के समाजवादी प्रयोग के तमाम भटकावों की वजह से उसे समाजवाद के मॉडल के रूप में तो पेश नहीं किया जा सकता परन्तु चिकित्सा के क्षेत्र में क्यूबा ने जो प्रगति की है उसको तमाम बुर्जुआ विश्लेषक भी स्वीकार करते हैं। दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में आने वाली तमाम प्राकृतिक आपदाओं की ही तरह कोरोना महामारी के दौरान भी क्यूबा ने अपने डॉक्टरों को कई अन्य देशों में भेजा जो वहाँ की चिकित्सा व्यवस्था के उन्नत रूप को दिखाता है।

समाजवादी चिकित्सा व्यवस्था कोरोना जैसी महामारियों से निजात पाने में सक्षम क्यों होगी, यह कई स्तरों पर समझा जा सकता है। सबसे पहले तो समाजवादी चिकित्सा व्यवस्था में ऐसी महामारियों की रोकथाम के लिए एण्टीवायरस व एण्टीबैक्टीरियल दवाओं के शोध की राह में मुनाफ़े की बाधा नहीं होने की वजह से सही समय पर टीकों की खोज हो सकेगी। जब तक टीके की खोज नहीं होती तब तक पूरा चिकित्सा तंत्र कोरोना जैसे वायरस के संक्रमण होते ही उसे क़ाबू में करने के लिए सक्रिय हो जायेगा। अस्पतालों के बेड, टेस्टिंग किट व चिकित्सीय उपकरणों से लेकर मास्क, सैनिटाइज़र्स आदि के उत्पादन को प्राथमिकता दी जायेगी और मुनाफ़ाख़ोरी व जमाख़ोरी न होने की वजह से स्वास्थ्य सुविधाओं की क़िल्लत नहीं होगी और उनकी पहुँच हर नागरिक तक होगी। इस वजह से कोरोना जैसी महामारियों की आक्रामक टेस्टिंग, ट्रीटमेण्ट और क्वारण्टाइन करना भी आसान होगा जिससे यह महामारी अगर फैल भी जाये तो उस पर जल्द ही क़ाबू पाया जा सकेगा।

समाजवादी व्यवस्था के तहत ज़रूरत पड़ने पर ऐसी महामारियों के लिए विशेष अस्पताल महज़ कुछ दिनों में बनाना आसान होगा क्योंकि उत्पादन व चिकित्सा प्रणाली योजनाबद्ध होगी। उत्पादन मुनाफ़े की बजाय लोगों की ज़रूरतों पर टिका होने की वजह से समाजवादी राज्य के लिए यह सुनिश्चित करना आसान होगा कि महामारी की परिस्थिति में लोगों के भूखे मरने की नौबत न आये। यही नहीं संचार तंत्र पर समाजवादी राज्य का नियंत्रण होने और कम समय में जनता की व्यापक लामबन्दी कर पाने की क्षमता की वजह से 'सोशल डिस्टेंसिंग' जैसी रणनीति भी कारगर ढंग से लागू हो सकेगी और अन्धविश्वासों व अफ़वाहों पर भी आसानी से नकेल कसी जा सकेगी। चूँकि समाजवादी व्यवस्था लगातार वैज्ञानिक सोच को बढ़ावा देती है इसलिए पूरे समाज के लिए बीमारियों व महामारियों से लड़ना भी आसान हो जाता है।

कोरोना महामारी से पहले भी पूँजीवाद को उखाड़ फेंकने के पर्याप्त कारण थे। लेकिन इस महामारी ने यह दिन के उजाले की तरह साफ़ कर दिया है कि पूँजीवाद का एक-एक दिन मनुष्यता के अस्तित्व के लिए ख़तरा बनता जा रहा है। पूँजीवाद को उखाड़कर समाजवाद की स्थापना की ज़रूरत आज पहले से कहीं ज़्यादा आसन्न हो गयी है।

(मज़दूर बिगुल, सितम्बर 2020 से)

पूँजीवाद और स्वास्थ्य सेवाओं की बीमारी

(पेज 21 से आगे)

के चलते इन सीमित डॉक्टरों और स्वास्थ्य सेवाओं का केन्द्रीकरण भी शहरों में ही सीमित हो कर रह गया है। एक अध्ययन के अनुसार भारत में 75 प्रतिशत डिस्पेंसरियाँ, 60 प्रतिशत अस्पताल और 80 प्रतिशत डॉक्टर शहरों में हैं जहाँ भारत की केवल 28 आबादी निवास करती है। भारत में आयु सम्भाव्यता 68 साल है जो ब्रिक्स के देशों में सबसे कम है। भारत के ग्रामीण इलाक़ों में 5 कि.मी. की ज़द में कोई बिस्तर वाला अस्पताल केवल 37 प्रतिशत लोगों की पहुँच में है और 68 प्रतिशत लोगों की पहुँच किसी ओपीडी तक है। ऐसे में गाँव की ग़रीब आबादी को इलाज मिल ही नहीं पाता है और शहरों में भी इलाज का ख़र्च सिर्फ़ अमीर ही उठा पाते हैं।

इस प्रकार हम साफ़ देख सकते हैं कि मुनाफ़ाख़ोर पूँजीवादी व्यवस्था ने किस तरह से हर चीज़ की तरह स्वास्थ्य और मानव जीवन को भी एक माल बना दिया है। उदारीकरण और भूमण्डलीकरण के लागू होने के बाद से स्वास्थ्य सेवाओं की हालत बद से बदतर होते जा रही है और यह तब तक जारी रहेगा जब तक पूँजीवादी व्यवस्था क़ायम रहेगी। ऐसे में यह बेहद ज़रूरी है कि पूँजीवाद को ख़त्म करके समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की जाये ताकि मानव जीवन और मानव स्वास्थ्य को एक मानवीय ज़रूरत के तौर पर ही देखा और व्यवहार में लाया जाये, न कि एक माल के तौर पर।

(मज़दूर बिगुल, अगस्त-सितम्बर 2016 से)

बन्द होती सार्वजनिक क्षेत्र की दवा कम्पनियाँ

(पेज 24 से आगे)

था। लेकिन 1980 के दशक तक लोक कल्याणकारी नीतियों का कींसियाई फ़ॉर्मूला भारत सहित पूरी दुनिया में ही फेल होने लगा और उसके बाद से ही नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण के नाम पर पूरी दुनिया की पूँजीवादी सरकारें जनकल्याणकारी नीतियों से हाथ खींचने लगीं। अब लगातार सार्वजनिक क्षेत्र को ख़त्म किया जा रहा है और इसको पूँजीपतियों को सौंपा जा रहा है, स्वास्थ्य सेवाओं सहित अन्य सभी सरकारी सुविधाओं को प्राइवेट किया जा रहा है और यह सब विकास के नाम पर हो रहा है। भारत जैसे देशों में यह काम ज़्यादा नंगे तरीक़े से किया जा रहा है, सरकार बेशर्मी के साथ सार्वजनिक क्षेत्र का दिवाला निकाल रही है और फिर ओने-पौने दामों में इनको बेच रही है या फिर बन्द कर रही है। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है बल्कि यह पूँजीवाद की तार्किक गति है। पूँजीवाद आम जनता को सेवा या सुविधा मुहैया करवा ही नहीं सकता क्योंकि उसका आधार जनता की सुविधा पर नहीं बल्कि मुनाफ़े पर टिका होता है और यह मुनाफ़ा मेहनतकश के शोषण पर टिका होता है। जनकल्याण का वह सिर्फ़ स्वाँग भर सकता है और स्वाँग भी कुछ समय के ही लिए, उसके बाद उसको अपना घिनौना चेहरा दिखाना ही पड़ता है। पूँजीवाद एक कैंसर है जो सिर्फ़ दुःख दे सकता है और मौत दे सकता है। कैंसर का एक ही इलाज होता है कि उसको जड़ से काट कर अलग कर दिया जाये और वह भी समय रहते वरना बाद में यह लाइलाज हो जाता है और मृत्यु के साथ ही ख़त्म होता है। पूँजीवाद की बीमारी का भी यही इलाज है कि इसको जड़ से ख़त्म कर दिया जाये।

(मज़दूर बिगुल, मार्च 2017 से)

राजेन्द्र धोड़पकर का कार्टून

क्रान्तिकारी समाजवाद ने किस प्रकार महामारियों पर क़ाबू पाया

(पेज 22 से आगे)

को ले जाने वाले स्वास्थ्यकर्मियों की एक पूरी फ़ौज खड़ी की गयी थी जिसमें बड़ी संख्या में छात्रों-युवाओं और विशेष रूप से लड़कियों को शामिल किया गया था। 'बेयरफ़ुट डॉक्टर' (नंगे पाँव वाले डॉक्टर) कहे जाने वाले इन स्वास्थ्यकर्मियों को तीन से छह महीने का बुनियादी मेडिकल और पैरामेडिकल प्रशिक्षण दिया जाता था। ये स्वास्थ्यकर्मी उपचार से ज़्यादा रोकथाम पर ज़ोर देते थे। वे टीके लगाने, इम्युनाइज़ेशन करने, शिशु का जन्म कराने व अन्य प्राथमिक उपचार करने में प्रशिक्षित थे। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली व औषधियों के साथ ही साथ वे एक्युपंक्चर व मॉक्सीबशन जैसी चीन की पारम्परिक चिकित्सा प्रणाली व औषधियों का प्रयोग करते थे। गम्भीर रोगों से ग्रस्त मरीज़ों को वे काउण्टी के अस्पताल में भेजते थे। 1970 के दशक में चीन के स्वास्थ्य कार्यक्रम को विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी स्वीकार किया था और दुनिया के अन्य हिस्सों में इस तरह के स्वास्थ्य कार्यक्रम को बढ़ावा देने का अनुमोदन किया था।

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर में शहरी स्वास्थ्यकर्मियों को या तो निश्चित स्थानों – जैसे काउण्टी अस्पताल और कम्यून अस्पताल या फिर "सचल मेडिकल टीमों" में तैनात किया गया। किसी भी समय हर शहरी अस्पताल का कम से कम एक तिहाई स्टाफ़ गाँवों में होता था। वे छह महीने से लेकर एक साल तक का समय वहाँ बिताते थे और साल में दो बार अपने परिजनों से मिलने जा सकते थे। अगर वे और भी ज़्यादा समय वहाँ बिताना चाहते थे तो अपने परिवार को भी साथ रख सकते थे। कुछ शहरी डॉक्टर तो स्थायी रूप से गाँवों में बस भी गये थे।

गाँवों में भेजने का एक और कारण यह था कि शहरी डॉक्टर, मेडिकल स्कूलों के टीचर और शोधकर्ता कठिन परिश्रम और किसानों के सम्पर्क के माध्यम से "पुनर्शिक्षित" किये जायें। जो लोग गाँवों में रहे थे, वे बताते थे कि कैसे उन्हें किसानों की कठिन ज़िन्दगी का अन्दाज़ा नहीं था और कैसे किसानों की ज़रूरतों को समझने की वजह से अब उनमें मेडिकल सेवा के प्रति प्रतिबद्धता और बढ़ गयी है। हालाँकि 1965 से पहले भी "सहायकों" के विकास के प्रयास हुए थे, लेकिन 'सांस्कृतिक क्रान्ति' के दौरान एक नये तरह के स्वास्थ्यकर्मियों का निर्माण हुआ, जोकि "नियमित" डॉक्टरों और अन्य दूसरे स्वास्थ्यकर्मियों से बहुत अलग थे। इन नये स्वास्थ्यकर्मियों को आँकड़ों में मेडिकलकर्मी नहीं माना जाता था। उनकी गिनती कृषि श्रमिक (बेयरफ़ुट डॉक्टर), उत्पादन श्रमिक (श्रमिक डॉक्टर) या गृहिणी और सेवानिवृत्त लोगों (रेड मेडिकल वर्कर) के तौर पर होती थी और वे भी ख़ुद को यही मानते थे।

इसके अलावा स्वास्थ्य सेवाओं के संगठन में बड़े बदलाव किये गये। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा मुद्दा 1949 के बाद से एक कुलीन मैनेजर और बुद्धिजीवी तबक़े का विकास होना था, जिसे माओ और उनके साथी प्रतिक्रान्तिकारी प्रवृत्ति मानते थे। 1971 में और संगठनों की तरह ही स्वास्थ्य संगठनों का नेतृत्व भी 'क्रान्तिकारी कमेटियाँ' के हाथों में आ चुका था। इन कमेटियों में 'जन मुक्ति सेना' के प्रतिनिधि, काडर सदस्य और स्वास्थ्यकर्मियों के प्रतिनिधि 'थ्री-इन-वन' के अनुपात में होते थे।

इन प्रयासों की बदौलत क्रान्तिकारी चीन ने न सिर्फ़ महामारियों का सफलतापूर्वक मुक़ाबला किया बल्कि वहाँ के लोगों की जीवन प्रत्याशा और जीवन स्तर में ज़बर्दस्त सुधार भी हुआ। इसका अन्दाज़ा इस आँकड़े से ही लगाया जा सकता है कि क्रान्ति से पहले वहाँ चीन में नवजात मृत्यु दर 1000 में 300 तक पहुँच चुकी थी, वहीं 1970 के दशक तक आते-आते 40 से नीचे हो गयी जो अमेरिका जैसे विकसित देशों के समतुल्य थी।

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

महान जर्मन कवि बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की कविता

डॉक्टर के नाम एक मज़दूर का ख़त

हमें मालूम है अपनी बीमारी का कारण
वह एक छोटा-सा शब्द है
जिसे सब जानते हैं
पर कहता कोई नहीं
जब बीमार पड़ते हैं
तो बताया जाता है
सिर्फ़ तुम्हीं हमें बचा सकते हो
जनता के पैसे से बने
बड़े-बड़े मेडिकल कॉलेजों में
ख़ूब सारा पैसा ख़र्च करके
दस साल तक
डॉक्टरी की शिक्षा पायी है तुमने
तब तो तुम
हमें अवश्य अच्छा कर सकोगे।
क्या सचमुच तुम हमें स्वस्थ
कर सकते हो।
तुम्हारे पास आते हैं जब
बदन पर बचे, चिथड़े खींचकर
कान लगाकर सुनते हो तुम
हमारे नंगे जिस्मों की आवाज़
खोजते हो कारण शरीर के भीतर।
पर अगर
एक नज़र शरीर के चिथड़ों पर डालो
तो वे शायद तुम्हें ज़्यादा बता सकेंगे
क्यों घिस-पिट जाते हैं
हमारे शरीर और कपड़े
बस एक ही कारण है दोनों का
वह एक छोटा-सा शब्द है
जिसे सब जानते हैं
पर कहता कोई नहीं।
तुम कहते हो कन्धे का दर्द टीसता है
नमी और सीलन की वजह से
डॉक्टर
तुम्हीं बताओ यह सीलन कहाँ से आयी?
बहुत ज़्यादा काम
और बहुत कम भोजन ने
दुबला कर दिया है हमें
नुस्ख़े पर लिखते हो
"और वज़न बढ़ाओ"
यह तो वैसा ही है
दलदली घास से कहो
कि वो खुश्क रहे।

डॉक्टर
तुम्हारे पास कितना वक़्त है
हम जैसों के लिए?
क्या हमें मालूम नहीं
तुम्हारे घर के एक कालीन की क़ीमत

पाँच हज़ार मरीज़ों से मिली फ़ीस
के बराबर है
बेशक तुम कहोगे
इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं
हमारे घर की दीवार पर
छायी सीलन भी
यही कहानी दोहराती है
हमें मालूम है अपनी बीमारी का
कारण
वह एक छोटा-सा शब्द है
जिसे सब जानते हैं
पर कहता कोई नहीं
वह है "ग़रीबी"।

मज़दूर बिगुल की ओर से शीघ्र प्रकाश्य पुस्तिका

स्वास्थ्य व्यवस्था : जनता के लिए या मुनाफ़े के लिए

पूँजीवाद के तहत स्वास्थ्य और चिकित्सा और क्रान्तिकारी समाजवाद के दौर में जन स्वास्थ्य की नीतियों और व्यवस्थाओं पर तथ्यपरक सामग्री प्रस्तुत करने वाले 15 लेखों का संकलन। कोविड महामारी के दौर में एक बेहद महत्वपूर्ण पठन सामग्री।

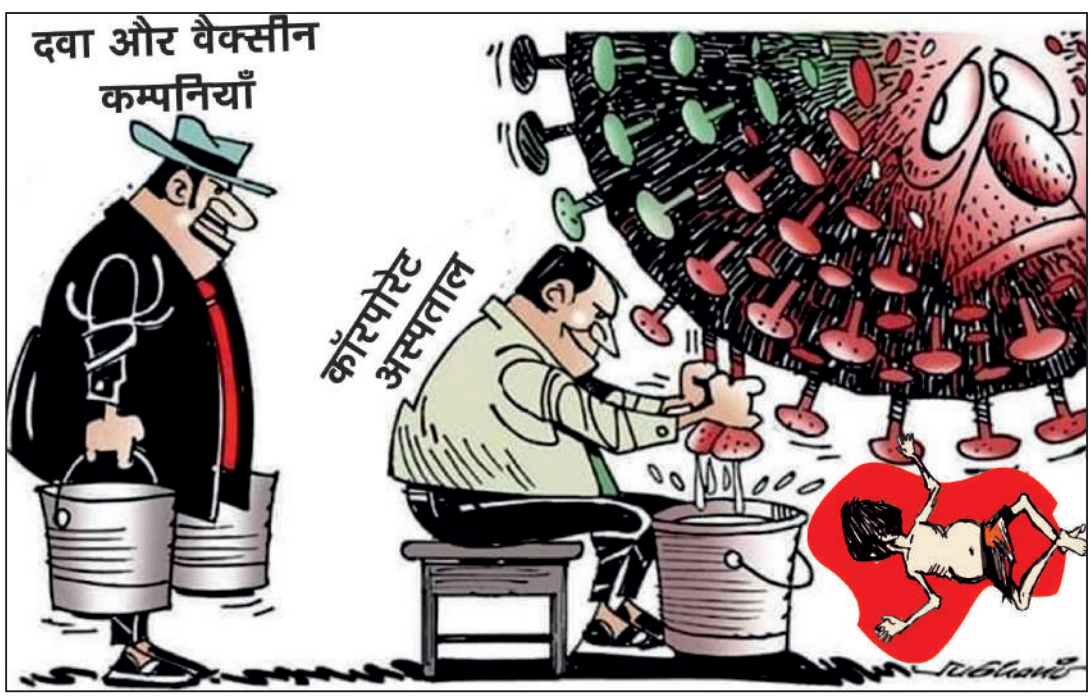

उत्तर प्रदेश में शिक्षक यूनियनों के अनुसार पंचायत चुनाव में ड्यूटी के कारण 1621 शिक्षकों की मृत्यु। अनेक दूसरे कर्मचारियों की भी मृत्यु हुई जिनके आँकड़े अभी नहीं मिले हैं।

– योगी सरकार के अनुसार केवल 3 शिक्षकों की जान गयी।

लाशें नदियों में बह रही हैं, नदियों के किनारे लाशों से भरे हैं, गाँव-गाँव में मरने वालों की तादाद बढ़ रही है, हमारे आसपास रोज़ घर-घर में लोग मर रहे हैं।

– सरकारें बस आँकड़े कम करने में लगी हुई हैं।

अब तो समझो! ये सरकारें नहीं, पूँजीवादी लुटेरों के लठैतों और हत्यारों का गिरोह हैं!

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006